राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान-राज्य द्वारा प्रकाशित

सामान्यतः अखिलभारतीय तथा विशेषतः राजस्थानदेशीय पुरातनकालीन
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी आदि भाषानिबद्ध
विविधवाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्ट-ग्रन्थावली

प्रधान सम्पादक

फतहसिंह, एम. ए., डी. लिट्.
निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

ग्रन्थाङ्क २५

चित्रकूटाधिपति-कुम्भकर्ण-नृपति-प्रणीत

नृत्यरत्नकोश

द्वितीय भाग

(शोधपूर्ण भूमिका तथा परिशिष्टों सहित)

प्रकाशक

राजस्थान राज्याज्ञानुसार
निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान
जोधपुर (राजस्थान)

१९६८ ई०

वि० सं० २०२४ भारतराष्ट्रिय शकाब्द १८८९

प्रधान-सम्पादकीय वक्तव्य

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग का प्रकाशन सन् १९५७ में इसी प्रतिष्ठान की पुरातन ग्रन्थमाला के अंतर्गत हुआ था। उस समय से निरंतर इसके द्वितीय भाग की मांग होती रही है। हमें खेद है कि हमारे पाठकों को द्वितीय भाग के लिए ११ वर्ष तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। वस्तुतः ग्रन्थ के द्वितीय भाग का मुद्रण भी सन् १९५७ में हो चुका था, परंतु किन्हीं कारणों से इसका प्रकाशन अब तक रुका रहा। ग्रन्थ के प्रकाशन में इस अत्यधिक विलम्ब के लिए क्षमा-याचना करते हुए, प्रतिष्ठान इस ग्रन्थ को सहृदय पाठकों के हाथों में देते हुए संतोष का अनुभव करता है।

नृत्यरत्नकोश मेवाड़ाधिपति महाराणा कुम्भा की सुप्रसिद्ध कृति संगीतराज का एक भाग है। संगीतराज में नृत्यरत्नकोश (जो कि ग्रन्थ का चतुर्थ कोश है) के अतिरिक्त पाठ्यरत्नकोश, गीतरत्नकोश, वाद्यरत्नकोश और रसरत्नकोश भी हैं। सर्वप्रथम डा० श्री सी. कुन्हन राजा ने इस ग्रन्थ के पाठ्यरत्नकोश को प्रकाशित किया था। तत्पश्चात् डा० प्रेमलता शर्मा ने पाठ्यरत्नकोश के साथ गीतरत्नकोश को मिलाकर एक विद्वत्तापूर्ण भूमिका के साथ प्रकाशित करवाया। इनमें से पाठ्यरत्नकोश को पुन: इस प्रतिष्ठान द्वारा प्रकाशित करने का निश्चय सन् १९६४ में किया गया था और श्रीगोपालनारायण बहुरा द्वारा संपादित होकर वह ग्रन्थ सन् १९६५ में मुद्रित भी हो गया था, परन्तु अभी तक उसकी भूमिका प्राप्त न होने से वह प्रकाशित नहीं हो सका। हर्ष है कि वह भी संपादक की विद्वत्तापूर्ण भूमिका के साथ अब प्रकाशित हो रहा है।

महाराणा कुम्भा की इन अमरकृति के दो भाग वाद्यरत्नकोश तथा रस-रत्नकोश प्रकाशित होने के लिए फिर भी रह जाते हैं। योग्य सम्पादक मिलने पर उन दोनों का प्रकाशन भी प्रतिष्ठान द्वारा हाथ में लिया जायगा, जिससे कि इस बहुमूल्य ग्रन्थ की समग्रता सुविज्ञ पाठकों के सामने आ जाय और उसका अध्ययन तथा अनुशीलन योग्य व्यक्तियों द्वारा किया जा सके।

कुछ विद्वानों ने संगीतराज को संगीतरत्नाकर पर आधारित माना है। संगीतरत्नाकर में सात अध्याय हैं जिनमें क्रमश: स्वर, राग, प्रकीर्ण, प्रबन्ध, ताल, वाद्य और नृत्य विषयों की चर्चा है, परन्तु संगीतराज और संगीतरत्नाकर के सूक्ष्म तुलनात्मक अध्ययन के विना यह कहना असंभव है कि संगीतराज के ५

कोशों के अन्तर्गत उक्त सातों अध्यायों का विषय पूरी तरह समाविष्ट होता है या नहीं। इस महाग्रन्थ के विषय में इसी प्रकार की और भी सम्मतियां व्यक्त की जाती रही हैं। प्रो० एस. एन. दास गुप्ता और डा० एस. के. डे ने इस ग्रन्थ के रसरत्नकोश को अलंकार-शास्त्र का एक नगण्य कृति-मात्र माना है।[1] प० वी. एन. भातखण्डे ने इस ग्रन्थ का नाम ही संगीतराजरत्नकोश माना है।[2] इसी प्रकार महामहोपाध्याय कविराज श्यामलदास ने वीरविनोद में इसे संगीत-राजवार्तिक[3] नाम दिया है और कुछ अन्य विद्वानों[4] ने महाराणा कुंभा के संगीतराज तथा संगीतमीमांसा को दो अलग-अलग ग्रन्थ माना है, यद्यपि अब सिद्ध हो चुका है कि ये दोनों नाम वस्तुतः एक ही ग्रन्थ के हैं। स्पष्ट है कि इस प्रकार की सम्मतियां समग्र ग्रन्थ के अध्ययन पर आधारित न होने से भ्रामक हो जाती हैं; अतः संगीतराज के लेखक की मौलिकता का मूल्यांकन करने के लिए, हमें ग्रन्थ के सभी कोशों के प्रकाशन के लिए प्रतीक्षा करना आवश्यक है।

अब तक संगीतराज के विषय में जो भी मत विद्वानों द्वारा व्यक्त किये गये हैं, उनमें डा० प्रेमलता शर्मा का सर्वाधिक अधिकारपूर्ण तथा महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। उनका कहना है कि—

> "संगीतराज पाठक को कई दृष्टियों से आश्चर्यजनक तथा उत्कृष्ट कृति प्रतीत होता है। वह संगीत की जटिल समस्याओं की व्याख्या की दृष्टि से परिपूर्ण है, विस्तार तथा उदाहरणों की समृद्धि की दृष्टि से उल्लेखनीय है तथा बृहत्संगीत की परिभाषाओं का वैदिक-दर्शन की पूर्व एवं उत्तरमीमांसा के परिभाषाओं के साथ समन्वय करने में सक्षम है। अतः दोनों प्रकार की परिभाषाओं के बीच पूर्ण आदान-प्रदान को स्थापित करके संगीतराज सचमुच एक उपवेद कहलाने का अधिकारी हो सकता है। उपवेद के रूप में संगीतराज केवल संगीत और नृत्य पर एक पाठ्य-पुस्तक मात्र न होकर, वस्तुतः वेद की उद्देश्यपूर्ति के लिए लिखा गया है। इस उपवेद के यह दोहरे उद्देश्य की पूर्ति संगीतराज में पूर्णतया होने की आशा

---

१. हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर, जिल्द १, पृ० ५६६।

२. ए कम्पेरेटिव स्टेडी ऑव सम ऑव दी लीडिंग म्यूजिकल सिस्टम ऑफ दी १५, १६, १७, १८ वीं शताब्दी, पृ० ३।

३. जिल्द १, पृ० ३३५।

४. डॉ० गौरीशंकर हीराचंद ओझा कृत उदयपुर का इतिहास, पृ० ३१, ६२५; हरिविलास शारदा कृत महाराणा कुंभा, पृष्ठ १६६।

की गई थी, क्योंकि उसके लेखक का यह दावा है कि इस ग्रन्थ के प्रणयन में उसका लक्ष्य नाट्यवेद की प्राचीन-परंपरा का पुनरुद्धार करना है।"[1]

डा० प्रेमलता शर्मा का यह अभिमत भारतीय संगीत के आद्याचार्य भरत-मुनि[2] के उस कथन की याद दिलाता है जिसके अनुसार नाट्यवेद का एकमात्र उद्देश्य वेद-व्यवहार को सार्ववर्णिक बनाना होता है। अत एव संगीतराज का अध्ययन जहां भारतीय संस्कृति की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है वहां वह एक अत्यन्त कठिन कार्य भी है। जैसा कि डा० प्रेमलता शर्मा ने कहा है, संगीत-शास्त्र तथ वैदिक-दर्शन की द्विविध दृष्टि से इस ग्रन्थ की सम्यक् व्याख्या करना एक स्वतंत्र शोध का विषय हो सकता है। डा० शर्मा के शब्दों में "इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतीय संगीतशास्त्र के ग्रन्थों में संगीतराज का प्रमुख स्थान होगा और कई दृष्टियों से, इस विषय के अन्य सभी पूर्ववर्ती ग्रन्थ इसके सामने श्रीहीन हो जायेंगे।.........इसके कई विषय संभवतः शोध विद्यार्थियों के लिए जो कि संगीत और वेद दोनों से पूर्णतया परिचित हैं, निरन्तर सामग्री मिलती रहेगी।"

महाराणा कुम्भा

इस दृष्टि से संगीतराज के कर्त्ता को भारतवर्ष के इतिहास में, न केवल एक प्रसिद्ध शासक होने के नाते, अपितु एक महान् लेखक एवं प्रतिभावान् विचारक के रूप में भी महत्त्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए। महाराणा कुम्भा के व्यक्तित्व के विषय में डा० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, श्रीहरविलास शारदा, डा० प्रेमलता शर्मा और इस ग्रन्थ के विद्वान् सम्पादक ने बहुत कुछ कहा है, जिसको फिर से दुहराना व्यर्थ होगा, परन्तु यहां पर इतना कहना अनुचित न होगा कि महाराणा कुम्भा का व्यक्तित्व अत्यन्त असाधारण था और उसका मूल्यांकन असाधारण स्तर पर ही किए जाने की आवश्यकता है क्योंकि इस प्रकार के व्यक्तित्व को साधारण मापदंड से देखने में भूल हो जाना निश्चित है। महाराणा कुम्भा के व्यक्तित्व की सर्वोत्कृष्ट विशेषता उनकी बहुमुखी जिज्ञासा में निहित है जिसको मानने से कोई भी आलोचक इनकार नहीं कर सकता। यदि यह भी मान लिया जाय कि उसने कोई भी ग्रन्थ नहीं लिखा, तो भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कुम्भा ने नाट्यशास्त्र, स्थापत्य, काव्यशास्त्र, धर्म,

---

१. संगीतराज, जिल्द १, भूमिका पृ० ६।

२. नाट्यशास्त्र, प्रथम अध्याय, पद्य १२।

दर्शन, चित्रकला, मूर्त्तिकला आदि विषयों के अनेक विद्वानों को न केवल प्रश्रय ही दिया अपितु उनके सत्संग से भी लाभ उठाया। इसके अतिरिक्त 'राजस्थान भारती' के कुम्भा विशेषांक पृ० १२९ से १४३ तक में कुंभा के जिन अलौकिक गुणों का उल्लेख किया गया है, उनसे प्रतीत होता है कि उसमें योगी होने के नाते अनुपम शक्ति और सामर्थ्य निहित थी। अतः कीर्त्तिस्तम्भ के अभिलेख में उल्लिखित संस्कृत के अतिरिक्त महाराष्ट्र, तैलंग और कर्णाटकी भाषाओं में रचना करना कुम्भा जैसे अलौकिक व्यक्ति के लिए असंभव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसकी असाधारण जिज्ञासा को देखते हुए उसके लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह अपने राज्याश्रित विविध भाषाभाषी पंडितों से उनकी भाषायें सीखने के लिए प्रयत्नशील होता।

कुछ लोगों ने संदेह प्रकट किया है कि कुंभा जैसे राजकाज में व्यस्त एवं निरन्तर युद्धरत व्यक्ति के लिए ग्रन्थ रचना करने के लिए समय मिलना कैसे संभव हो सकता है, परन्तु इस विषय में यह विचारणीय है कि महाराणा कुंभा एक अत्यन्त धार्मिक व्यक्ति था और ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि वह दूसरों की कृतियों को अपनी कृति कहने के लिए कदापि लालायित नहीं था। उसके आश्रय में अनेक लेखकों ने विविध विषयों में रचनायें कीं। उदाहरण के लिए, अकेले स्थापत्य पर लिखने वाले प्रसिद्ध सूत्रधार मण्डन की ही निम्नलिखित रचनायें कही जाती हैं।[1] १. प्रासाद मण्डन, २. रूपमण्डन, ३. वास्तुमण्डन, ४. वास्तुशास्त्र, ५. वास्तुसार, ६. रूपावतार, ७. देवतामूर्त्तिप्रकरण, ८. राजवल्लभ। मण्डन के पुत्र गोविन्द के भी उद्धारधोरणी, कलानिधि और द्वारदीपिका-नामक रचनाओं का और मण्डन के भाई नाथा की वास्तुमंजरी का उल्लेख भी मिलता है। कुम्भा द्वारा निर्मित मन्दिरों, भवनों, स्तम्भों, गढ़ों आदि के उत्कृष्ट निर्माण-कार्य इतने अधिक हैं कि उनके आधार पर कुम्भा के अनुपम स्थापत्य-प्रेम को स्वीकार करना ही पड़ता है। ऐसी स्थिति में यदि कुम्भा सचमुच लेखक बनने की महत्वाकांक्षा को अर्थबल से ही पूर्त्ति करना चाहता तो यह असंभव नहीं था कि वह इन लेखकों के कृतित्व को खरीद कर स्वयं इन ग्रन्थों का कर्त्ता बन जाता। इसी प्रकार अत्रिभट्ट, महेश तथा कन्हव्यास आदि अनेक कवियों द्वारा रचित ग्रन्थ भी अभी तक उन्हीं लेखकों के नाम से चले आरहे हैं। अतः डा० प्रेमलता शर्मा के शब्दों में "ये तथ्य इस बात को प्रमाणित करते हैं कि कुम्भा

---

१. ओझा : उदयपुर का इतिहास, पृ० ६२७।

की कोई ऐसी नीति नहीं थी कि वह उत्कृष्ट ग्रन्थों के कृतित्व को पैसे से खरीद कर स्वयं उनका लेखक बन जाता।"[१]

संगीतराज का कर्तृत्व

फिर भी संगीतराज के कर्तृत्व के विषय में कुछ विचारणीय तथ्य रह जाते हैं। कुम्भा और कालसेन के बीच इस ग्रन्थ के कर्तृत्व को लेकर विद्वानों का जो मतभेद चल रहा था, उसको तो अब समाप्त ही समझना चाहिए। ग्रन्थ की जिन पाण्डुलिपियों में कुम्भा के स्थान पर कालसेन का नाम लिखा गया है उनमें भी डा० प्रेमलता शर्मा[२] ने एक ऐसे श्लोक को उद्धृत पाया है जिसमें कुम्भकर्ण का नाम प्रच्छन्नरूप से अभिप्रेत है, परन्तु उसको उक्त पाण्डुलिपि में ज्यों का त्यों रखा गया है। उसी प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादक ने भी पाठ्यरत्नकोश के एक इसी प्रकार के पद्य का उल्लेख किया है।[३] इसके अतिरिक्त अन्य शक्तिशाली तर्कों के आधार पर भी कालसेन के कर्तृत्व को पूर्णतया असत्य ठहराया जा सकता है।[४] फिर भी एकलिंग-माहात्म्य के कर्त्ता कन्ह व्यास के पक्ष में निम्नलिखित तथ्य विचारणीय हो जाते हैं—

१. एकलिंग-माहात्म्य में ५ ऐसे श्लोक मिलते हैं जो कि संगीतराज में भी आये हैं।

२. एकलिंग-माहात्म्य और संगीतराज की भाषा एवं शैली में साम्य देखा जा सकता है।

३. एकलिंग-माहात्म्य के कर्ता कन्ह व्यास ने अपने को 'अर्थदास' कहा है।

इन तथ्यों के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि संगीतराज कुंभा की कृति न होकर कन्ह व्यास की ही कृति होगी, परन्तु इस अनुमान के मार्ग में मुख्य बाधा यह आती है कि संगीतराज का लेखक नैतिक और दार्शनिक दृष्टि से जिस ऊंचाई पर आसीन दिखाई पड़ता है उसको ध्यान में रखते हुए यह तो संभव हो सकता है कि वह अपने नाम और यश की चिन्ता न करे, परन्तु यह सम्भव नहीं कि पैसे के लोभ में अपने कर्तृत्व को बेच दे। इसके अतिरिक्त

---

१. संगीतराज, जिल्द १, पृ० ५६।
२. वही, पृ० ३३।
३. देखिये, नृत्यरत्नकोश की भूमिका, पृ० ४।
४. देखिये, डॉ० प्रेमलताकृत संगीतराज की भूमिका, पृष्ठ २६-३५; प्रॉ० रसिकलाल परीख, प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका।

सम्पूर्ण महाग्रन्थ में जो सुविचारित योजना, व्यापक सांस्कृतिक सूझबूझ तथा नैपुण्य युक्त कार्यदक्षता के दर्शन होते हैं। उसके आधार पर डा० प्रेमलता शर्मा का यह कथन ठीक प्रतीत होता है कि, "ग्रन्थ रचना की प्रवृत्ति, रचना की स्वरूप-योजना तथा उसकी रूपरेखा का निर्माण, सामग्री का चयन, संकलन-सम्बन्धी जटिल समस्याओं का समाधान, प्राचीन ग्रन्थ के मूल्यांकन की दृष्टि का निर्धारण तथा लेखक की अपनी निजी दृष्टि का आकलन" आदि जो भी इस ग्रन्थ में दृष्टि-गोचर होते हैं उस सब का श्रेय स्वयं कुंभा को जाना चाहिए। यह स्वाभाविक है कि इस ग्रन्थ-रचना के महाप्रयत्न में उसने कन्ह व्यास जैसे अनेक विद्वानों से न केवल सामग्री संकलनादि में, अपितु ग्रन्थ को लिपिबद्ध करने तथा भाषा, छन्द आदि की दृष्टि से संशोधन करने में भी सहयोग प्राप्त किया होगा। ऐसी अवस्था में यह असंभव नहीं है कि किसी विद्वान् ने अपनी किसी रचना के कुछ श्लोकों को किसी भी अवस्था में सम्मिलित कर दिया हो। इसके अतिरिक्त यह भी संभव है कि एकलिंगमाहात्म्य स्वयं एक संकलन ग्रन्थ हो (जैसा कि वह सरसरी दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है) जिसमें कन्ह व्यास ने अपनी रचनाओं के साथ-साथ संगीत-राज सहित अन्य ग्रन्थों से पद्य संकलित किये हों। इसी आधार पर कुंभाकृत रसिकप्रिया (गीतगोविन्द की टीका) के श्लोक का एकलिंगमाहात्म्य में सम्मि-लित होना संभव हो सकता है, क्योंकि रसिकप्रिया में लेखक की जिस क्रान्ति-कारी दृष्टि का परिचय मिलता है वह व्यास जैसे शुद्ध परम्परावादी के लिए उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। रसिकप्रिया में गीतों के लिए जिन रागों, तालों आदि का विधान किया गया है, वे जयदेव के गीतगोविन्द में प्रयुक्त रागों, तालों आदि से भिन्न हैं और परम्परा के इस अतिक्रमण के लिए कुम्भा की कट्टर परम्परावादी संगीत[1] अब भी आलोचना करते हैं। ऐसी स्थिति में कन्ह व्यास का अपने लिए अर्थदास शब्द का प्रयोग करना केवल यही प्रकट करता है कि उसके हृदय में वैराग्य की भावना होते हुए भी वह विरक्त न होकर, राज्यसेवा में लगा रहा। संगीतराज और एकलिंगमाहात्म्य की शैली और भाषा के सादृश्य पर बहुत महत्त्व नहीं दिया जा सकता क्योंकि इस सादृश्य का कारण यह भी हो सकता है कि कुम्भा ने भाषा तथा छन्द-रचना का ज्ञान कन्ह व्यास से प्राप्त किया हो अथवा निकट सम्पर्क के कारण उसका अनुकरण किया हो। यह भी संभावना है कि बहुत से छन्दों में अभिव्यक्त अर्थ को स्वयं कुम्भा ने अपने शब्दों में कह दिया हो और कन्ह व्यास ने उस अर्थ को स्वनिर्मित छन्दों में

---

१. तुलना करो, स्वामी प्रज्ञानानन्द, हिस्टोरिकल डवलपमेंट ऑव इन्डियन म्यूजिक, पृ. २३१

व्यक्त किया हो। यह संभावना कम से कम एकलिंग-माहात्म्य के उन ५० श्लोकों के लिए तो हो ही सकती है जिसका सारा अर्थ कुम्भा द्वारा प्रदत्त तथा कन्ह-व्यास द्वारा कीर्त्तित हुआ है और संभवतः इसी भाव से कन्ह व्यास ने स्वयं को अर्थदास कहा है। सम्बन्धित पंक्तियां निम्नलिखित हैं—

श्रीकुम्भदत्तसर्वार्था गीतगोविन्दसत्पथा ।
पञ्चाशिकार्थदासेन कन्हव्यासेन कीर्त्तिता ॥

नृत्यरत्नकोश

अस्तु, महाराणा कुम्भा-कृत संगीतराज के एक अंश के रूप में नृत्यरत्नकोश के प्रस्तुत प्रकाशन की उपादेयता तो नृत्यकलामर्मज्ञ ही समझ सकेंगे, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि ग्रन्थकार ने विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों से संकलन-सामग्री जुटाते हुए भी ग्रन्थ की समग्रता में एक अद्भुत मौलिकता को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। भरतमुनि के अनुसार नाट्यवेद के ४ अंग क्रमशः पाठ्य, गीत, अभिनय तथा रस होते थे[1], जिनमें से अभिनय के अन्तर्गत नृत्य को रखा जा सकता है। भरत ने हस्त-पाद-समायोग को नृत्य का करण कहा है[2], और इसके अनेक करणों के आधार पर बने मातृका, अंगहार, कलापक, षण्डक, संघातक का उल्लेख करते हुए १०८ करणों का वर्णन किया है परन्तु नृत्यरत्नकोश के उल्लास १, परीक्षण ४ में संभवतः इन सब का चार प्रकारों में ही वर्गीकरण कर दिया है जिनको क्रमशः आवेष्टित, उद्वेष्टित, आवर्तित तथा परिवर्तित नाम दिया गया है। इसी प्रकार कुम्भा की मौलिकता ग्रन्थ के विविध अंगों और उपांगों में देखी जा सकती है।

ग्रन्थकार के अनुसार (१,१,४-६) 'पाठ्यादि के उपयोगार्थ ही नृत्य का प्रणयन किया गया है, क्योंकि उसके अभाव में सभी कुछ निर्जीव-सा प्रतीत होता है। नृत्य के समान दृश्य अथवा श्रव्य अन्य कुछ भी नहीं है, क्योंकि चतुर्वर्ग के फल की प्राप्ति नृत्य से ही कही गई है। नृत्य के द्वारा ब्रह्मादि कुछ लोगों ने धर्म, कुछ ने अर्थ, कुछ ने काम तथा कुछ ने मोक्ष की प्राप्ति की है।' परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि पाठ्यरत्नकोश[3] में ब्रह्मचारी के विषय में नृत्य-निषेध को स्वीकार किया गया है। संभवतः यह निषेध नृत्यविद्या को

---

१. नाट्यशास्त्र, प्रथम अध्याय, श्लोक १७
२. वही ४/३०
३. ४, २, २७ (राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर द्वारा प्रकाशित संस्करण)

सीखने के लिये नहीं अपितु नृत्य के उस अतिशय प्रयोग के लिये है जिसको नृत्यरत्नकोश में ही "यूनां शृंगारसर्वस्वम्"[1] कहा गया है। निःसंदेह महाराणा कुंभा ने नृत्य समेत संपूर्ण नाट्यवेद को काम नामक पुरुषार्थ से प्रत्यक्षतः सम्बद्ध मान करके भी 'विषस्य विषमौषधं' के आधार पर नृत्य द्वारा काम-दहन की योग्यता प्रदान करने वाला माना है क्योंकि, जैसा कि गीतरत्नकोश में चक्रों का निरूपण करते हुए लेखक ने बतलाया है। वस्तुतः इन सभी कलाओं की अन्तिम परिणति सोम-चक्र अथवा सहस्रदल-कमल के अमृत-पान में ही होती है। इस प्रकार नृत्य आदि कलाओं को भारतीय दर्शन से सम्बद्ध करने का सफलतम प्रयास कुंभा के संगीतराज में ही देखा जा सकता है।

इस ग्रन्थ के सम्पादन में प्रा० रसिकलाल छोटालाल परीख ने जो परिश्रम किया है वह उनकी विद्वत्तापूर्ण भूमिका से स्पष्ट है। उन्होंने ग्रंथकार के कर्तृत्व आदि के विषय में जो ऊहापोह आदि की है वह बड़े महत्त्व की है। प्रा० परीख का यह प्रतिष्ठान अन्य कई दृष्टियों से भी उपकृत है। प्रतिष्ठान की ओर से मैं उनको हार्दिक धन्यवाद अर्पित करता हूँ। आशा है, विद्वान् सम्पादक का यह प्रयत्न सम्बन्धित-शास्त्र में गवेषणा को प्रोत्साहन प्रदान करेगा और उससे लाभ उठाकर शोध-छात्र भारतीय साहित्य की श्रीवृद्धि करेंगे।

फतहसिंह

माघ-शुक्ला अष्टमी, सं० २०२४
जोधपुर

---

१. यूनां शृंगारसर्वस्वं मानो मानवतामिदम्। (१,१,६)

नृत्यरत्नकोश - द्वितीय भाग

अनुक्रम



Contents

भागद्वयस्य विषयानुक्रमः

INTRODUCTION

I

Nṛtyaratnakos'a :

Nṛtyaratnakos'a, published in two parts in the Rājasthāna Purātana Granthamālā, is a part of a bigger work called Saṁgītarāja, which is described in the colophons as a Saṁgīta-mīmāṁsā consisting of 16,000 verses (S'odaṣasahasrī). The Saṁgītarāja contains the following Ratnakos'as :- (1) Pāṭhyaratnakos'a, (2) Gītaratnakos'a, (3) Vādyaratnakos'a, (4) Nṛtyaratnakos'a and (5) Rasaratnakos'a. Of these, Pāṭhyaratnakoṣa edited by Dr. C. Kunhan Raja was published in Bikaner in Ganga Oriental Series, as No. 4, in 1946.

Critical Apparatus :

The present edition of Nṛtyaratnakos'a is based on the following three manuscripts :—

Ms. A.

Place of deposit - Anūp Sanskrit Library, Bikaner. No. 3518.

Material - Paper.

Folios - 144.

Size - 7-3/4″×3-1/2″ ; A page contains about 8 lines and a line about 44 letters.

Extent - Four Ullāsas. Each Ullāsa contains four Parīkṣaṇas.

Script - Devanāgarī

Date - not mentioned. Appears to be about 300 years old.

Ms. B.

Place of deposit - Oriental Institute, Baroda, No. 9931

Material - Paper

Folios - 144

Size - 10-1/2″×4-1/2″; A page contains about 8 lines and a line about 43 letters.

Extent - Four Ullāsas, each with four Parīkṣaṇas.

Script - Devanāgarī.

Date - Not mentioned. Appears to be about 300 years old.

Ms. C.

Place of deposit - Anūp Library, Bikaner, No. 3519

Material - Paper

Folios - 110. Folios 52 and 53 newly substituted; hand-writing differs in folios 66, 67, 84, 105, 110.

Size - 7·3/4" × 3-1/4": A page contains about 9 lines and a line about 36 letters.

Extent - Four Ullāsas, each with four Parikṣaṇas.

Script - Devanāgarī

Date - Not mentioned. Appears to be about 300 years old.

A comparative study of these three Mss. shows that Mss. A & B mostly agree in their readings, whereas Ms. C has important variants. These variants of C, have provided correct readings in several places where the readings of A & B are unsatisfactory. We have tried to emend many other incorrect readings with the help of the readings from the chapters of the Nāṭyaśāstra of Bharata on the same subject, and Saṁgītaratnākara of Śārṅgadeva as well as from the quotations from several works on Nṛtyaśāstra given in the Bharatakośa prepared by M. Ramakrishna kavi. However a number of readings still remains unsatisfactory.

We have, in the footnotes, noted the various readings of the Mss. and given the quotations from other works with whose help we have emended the text. This will give to the critical scholar material to make his choice of the readings. The Sanskrit translation of Prakrit verses (Ullāsa 4, Parikṣaṇa 3) has also been given in the footnotes.

At the end of the second part of the text, that is this voloume, we have appended alphabetical indexes of verses, of important technical words and of the works and authors referred to in the text.

II

Authorship of the Nṛtyaratanakośa:

Who is the author of the Saṁgītarāja-Saṁgītamīmāṁsā of sixteen thousand verses? Two kings - Kumbhakarṇā and Kālasena - claim the title. The anomaly arises from the fact that some Mss. of the work in their colophons as well as the body of the text mention Kumbhakarṇa as the author, while some others, Kālasena. The statistical evidence of the Mss. of the Pāṭhyaratnakośa is more confusing than enlightening. Dr. Kunhan Raja, on the strength of this type of evidence comes to the rather amusing conclusion that because the majority of the Mss. examined by him mention Kālasena as the author, the work

should be given as by Kālasena and that - a very careful examination of the position leaves no doubt that the author is definitely Mahārāṇā Kumbha of Mewar.[1]

Let us now examine the evidence supplied by the three Mss. of Nṛtyaratnakos'a.

Ms. A. mentions S'rī Kumbhakarṇa as the author of the work in each of the Parīkṣaṇas as well as the Ullāsas. In the body of the text also, Kumbhakarṇa is referred to.

Ms. B. also has identical references with one exception. At the end of the first Parīkṣaṇa of the first Ullāsa, there is vacant space for about two lines. This is a bit surprising, because at the end of the other Parīkṣaṇas and Ullāsas, the space is completely written. A minute observation of the vacant space appears to suggest that some writing has been erased, probably for writing something else. May this not suggest that the person who wanted to change the name of the author from the colophons of the Ms. commenced his work by blotting out the old writing but for some reason or other could not finish his job ?

Ms. C. : The position regarding the names of the author in the Ms. C. is as follows :

Ullāsa	*Parīkṣaṇa*	*Name of the author*	
I	1	Kālasena	(1)
"	2	S'rī Kumbhakarṇa	(1)
"	3	"	(2)
"	4	Kālasena	(2)
	1	S'rī Kumbhakarṇa	(3)
"	2	"	(4)
"	3	"	(5)
"	4	Kālasena	(3)
III	1	S'rī Kumbhakarṇa	(6)
"	2	"	(7)
"	3	"	(8)
"	4	Kālasena	(4)
IV	1	S'rī Kumbhakarṇa	(9)
"	2	"	(10)

1. Saṅgitarāja Vol. I - Pāṭhyaratnakos'a, Preface pp. XXII-XXIII- "Although the author is Kumbhakarṇa, still I must respect the manuscripts which formed the basis of this edition and I must accurately present the manuscript material. So I have given the work as by Kālasena and I have given the name of Kumbhakarṇa only in the Title page and that within brackets." For a detailed discussion see pp.IXL-L.

Ullāsa	*Parīkṣaṇa*	*Name of the author*	
IV	3	S'rī Kumbhkarṇa	(11)
,,	4	Kālasena	(5)

Thus Kumbhakarṇa is mentioned 11 times, and Kālasena 5 times. In the body of the text, however, the Ms. C refers to Kumbhakarṇa as follows:

Ullāsa	*Parīkṣaṇa*	*S'loka*	*Mention of the Name*
I	1	17	Kumbhanṛpopadhiḥ
,,	,,	96	S'rī Kumbhakarṇa-Saṅgita-Gītagovinda, etc.
III	3	102	Kumbhabhūbhujā
IV	,,	159	Kumbhasvāmī

Thus as far as the three Mss. of Nṛtyaratnakos'a are concerned, the majority of the references gives to Kumbhakarṇa the title of authorship.

We have also consulted the other Ratnakos'as in the Saṁgītarāja Ms. belonging to the library of the Oriental Institute of the M. S. University, Baroda. They uniformly mention in their colophons Kumbhakarṇa as the author.[1]

The crucial evidence, however, is the mention of Kumbha in Ms. C. in the body of the text of Parīkṣaṇa 1 of Ullāsa I (p. 3. v. 17. p. 9 v. 96.) whose colophon gives Kālasena as the name of the author. Here, one may say, the scribe has been caught napping.

The colophon of the second Parīkṣaṇa of the fourth Ullāsa of Pāṭhyaratnakos'a mentions Kālasena as the author of the work. The verse preceding the colophon, however, is as follows:

न्यस्य लक्षणसंघातं यस्मिन् मेने कृतार्थताम् ।
समुद्रः स्वस्य तेनायं कृतो लक्षणसंग्रहः ॥ ७१ (पृ. ६७)

Here is a veiled reference to the author. There can be no doubt that the act of depositing (न्यसन) can be properly done in a Kumbha (a jar) and not in Kāla (time or black colour). We, therefore, think that Kumbha is indicated in this verse and not Kāla. If the reference is to the myth of the drinking of the ocean by Agastya, it would also be suggestive of Kumbha, because Agastya is called Kumbhsambhava.

In the light of the evidence discussed above it is reasonable to conclude that as between Kālasena and Kumbhakarṇa, the authorship of Nṛtyaratnakos'a should be assigned to Kumbhakarṇa.

1. See Appendix I to the Introduction.

This, however, raises another question : how to explain the attribution of authorship of the work to Kālasena? Dr. Kunhan Raja guesses that Mahārāṇā Kumbha had the name Kālasena also, and that in a particular Ms. the name Kumbha was suppressed deliberately and that this other name was put in the place. His reason for this rather queer procedure is that someone was using the copy for dancing girls and he was purposely concealing the name.[1] But this explanation leaves other related questions unsolved. Kālasena has a geneology of his own which is different from that of Kumbhakarṇa, has a different mother and a different queen. As we shall see the several places mentioned in the colophons of Kālasena are different and situated in the Marhatta country round about the region of Nasik and Tryambak. So there is no doubt that Kālasena is a person different from Kumbhakarṇa, and so this double attribution of authorship remains unexplained.

A comparative study of Nṛtyaratnakos'a and Saṁgītaratnākara of S'ārṅgadeva shows that the former is based upon the latter. Not only that, but a long quotation from Kalānidhi (of Kallinātha) a commentary on Saṁgītaratnākara is given in the Nṛtyaratnakos'a (p. 134). This shows that whoever wrote N. R. he was well-versed in Saṁgītaratnākara and its commentary Kalānidhi. In the colophon of Kumbhakarṇa, we are told that he wrote a drama in Telugu also. Kumbhakarṇa's proficiency in Sanskrit and Prakrit, it is possible to accept; but it is straining our credulity to accept that he was proficient in Telugu also This, however, would be possible for Kālasena or Kālujī as he is often called. Familiarity with Saṁgītaratnākara and Kalānidhi, though possible in both, can be more easily accepted for Kālasena. Still, however, the atribution of Saṁgītamīmāṁsā to Kumbhakarṇa being supported bv stronger evidence cannot be shaken by these considerations. So the only way in which we can explain this plagiarism is to take it as rather a transference of authorship. Some southern Paṇḍita or Paṇḍitas who wrote the Telugu play and Saṁgītamīmāṁsā, first presented the authorship to Kumbhakarṇa and then transferred it to Kālasena.[2] But we must state that there is no solid evidence to support this guess and so for the present we must leave the question here.

Kālasena's Pras'astis :

The main argument, as we have said, against the identity of Kālasena with Kumbhakarṇa is that the Pars'astis of Kālasena prove him to be an altogether different person from Kumbhakarṇa. Let us examine these

1. See pp. XLVII-XLIX, Introduction. SaṁgītaRāja, Vol. I.
2. Some such view is held by S'ri Ramakrisna Kavi. See p. X. Introduction, Bharatakos'a.

Pras'astis[1] and the introductory verses of the Pāṭhyaratnakos'a[2] and see what facts can be ascertained from them.

Name :

The Ms. C. of Nṛtyaratnakos'a gives to this person only one name - Kālasena. But in the printed text of Pāṭhyaratnakos'a we find such variants of Kālasena as Kālajit[3], Kāluji[4], Kṛṣṇa[5] and Tāmarāji[6]. Mention of Kāma seems to be a misprint for Kāla[7].

Geneology of Kālasena :

In the Pāṭhyaratnakos'a, Kālasena refers to his dynasty as Vyāghra-c mikaravaṁs'a[8]. We can gather the following geneology of Kālasena from his Pras'astis :

Tāmarāja — (1)
|
Āmodarāja
|
Rāmarāja
|
Peṅkarāja [Peḍa] P. R. K. P. 3, V. 12.
|
Mhāmarāja [Hmāṅga] P. R. K. V. 13, (Queen Padmāvatī)
|
Tāmarājendra [Tāmarāja] P. R. K. P. 5, V. 16.
|
Kālasena

The second Tāmarāja is described as Mahārājādhirāja-Mahārāṇā-S'rīmṛgāṅka - Tāmarājendra. It is not clear as to what is suggested by S'rīmṛgāṅka. Mṛgāṅka means the moon. Tāmarājendra can be taken to mean Tāma, the great king.

---

1. The Ms. C. of Nṛtyaratnakos'a gives short, long and very long Pras'astis of Kālasena as under :—

P. 70 - a Pras'asti of two lines; pp. 107, 144, 183, Pras'astis with 26 titles, and pp. 230-231 a very long Pras'asti with 105 titles. Similarly the Pāṭhyaratnakos'a gives short Pras'astis on pp. 13, 14, 23, 33, 41, 45, 53, 69; a long one on pp 8, 18, 38, 55 and a very long one on pp. 72-75.

2. Pāṭhyaratnakos'a, pp, 2-5, verses 6-34. We have tried to collect our information from these and also stray verses in the Pāṭhyaratnakos'a.

3. P. 37, verse 33.

4. P. 6, V. 37, 38, 42 ; P. 9, V. 7 ; P. 58, V. 10.

5. P. 59, V. 16 ; P. 60. V. 20 ; P. 66, V. 48.

6. P. 15, V. 3 ; P. 25, V. 13 ; P. 63, V. 40.

7. P. 38, V. 37.

8. P. 2, V. 6.

Mother :

The name of the mother of Kālasena was Jasamāmbikā.

Chief Queen :

His chief queen's name was S'ri-Karmavati-Laṣumā (or Lakhumā) Devī[1]. She came from the family of Nikumbha-chieftains.

We have some evidence regarding the existence of the Nikumbha-vaṁs'a. Two inscriptions of this family[2],- one of the S'aka year 1075=1153 A. D. of Govana - III and the other of the S'aka year 1128=1206 A. D. mentioning a grant of a village to a college for the study of the works of Bhāskarācārya, - have been published[3]. From these two inscriptions the following pedigree is given by Bühler,

Nikumbhavaṁs'a

1. Kṛṣṇarāja - I (about 1000 A. D.)
2. Govana - I
3. Govindrāja
4. Govana - II
5. Kṛṣṇarāja - II
6. Indrarāja - married S'rīdevī of the Sāgara race, regent after his death.
7. Govana - III
8. Sonhaḍadeva   9. Hemādideva (S'aka 1128=1206-7 A. D.[4])

From an inscription of Sonhaḍadeva we learn that the Nikumbha-vaṁs'a was a feudatory family of the Yādavas of Devagiri[5]. The Yādava

1. The name in the three Pras'astis of the P. R. K. pp. 18 38 and 55 is Laghumādevi, but in the every long Pras'asti (p.75) the name is Lakhumādevi as above.

2. A grant of a prince named Prithivivallabha-Nikumbhallas'akti of Sendraka family was issued from Bagumra of Baroda territory on the 8th August, A.D. 655 He was in charge of Lāṭa. See B. G. Vol. I, Part II. pp. 311 and 360. We cannot say whether this Nikumbhallas'akti has anything to do with the Nikumbha-vaṁs'a.

3. Indian Antiquary Vol. III 1879 pp. 39-42 and Journal of the Royal Asiatic Society; N. S. Vol. I pp. 414-418 respectively.

4. There is a misprint in the I. A. The years are given as 1216-17 A.D The mistake has been repeated in the Khandesh and Nasik Gazetteers.

5. After describing in the first seven verses Bhāskarācārya (1-3), the Yadu-vaṁs'a (4) Bhillama and Jaitrapāla (5) and Siṅghaṇa (6-7) the inscription proceeds : अथ भृत्यान्वयवर्णनं ॥ श्रीमद् भास्करवंशाय etc. J. R. A. S; N. S. Vol. I pp. 414-15.

Prof. Nilakanta Sastri. Any way Kallinātha seems to be a contemporary of Mallikārjuna's predecessor Pratāpavān Immaḍi Devarāya. If this is so, it gives some appreciable priority in time to Kalānidhi over the Nṛtyaratnakos'a.[1] The Nṛtyaratnakos'a must have, therefore, been composed circa 1450 A.D.

If, therefore, Kālasena was the author of the Nṛtyaratnakos'a he must have lived about this time or after it. We should, therefore, look for his contemporaries in the 15th century A.D.

Identification of some contemporaries :

Now let us consider the names of some of the rulers whom Kālasena is reported to have conquered in his Pras'asti. In title No. 92 Mahmmad Sultan of Gujarat is mentioned, in 39 Tujārasāna or °khāna, in 45 Ajimkhān, in 36 Baggularāja and in 37 Beḍurabhūpāla. The 'matchless Mallika' is mentioned in title No. 102. The Pras'asti in the Pāṭhyaratnakos'a gives Boddhurabhūpāla in place of Beḍurabhūpāla, and Bujārakhāna in place of Tujārakhāna (p. 73). The text also mentions 'Mahammada.'

As to the name 'Mahammada' we must bear in mind that in Sanskrit and vernaculars it would stand for both Muhammad and Mahmud. Amongst the Sultans of Gujarat we find many such names e.g. Muhammad I (1403 A.D. Tātārakhāna), Muhammad II (1442-51), Mahmūd I Begada (Fath Khan 1458-1511), Mahmud II (Nasirkhāna) 1526, Mahmud III (1538-1554), and Muhammad III. Thus all these Sultans flourished from the beginning of the 15th century to the latter half of the 16th. As to the two other Muslim names, Ajimkhān[2] can be identified with Āzam Khan who was appointed at Warangal, by Muhmmad III Bahamani, to administer the western division of Telingana about 1479-80 A.D. If this identification proves to be correct, one can transliterate 'Ananya Mallika' (102 title) as Hasan Malik who was appointed by the same king to administer the eastern or Rajamundry division of Telingana at the same time.[3]

The geneology given by Kallinātha—'Vijaya— Prauḍha S'rī Devarāja-Pratāpavān Immaḍi Devarāya'-enables one to put Immaḍi Devarāya in place of Vijayarāya II with a question mark just as it would have enabled us to fill in the lacuna after Devarāya II in Sewell's geneology.

1 See pp. 19-23, etc. Beginnings of Vijayanagar History by the Rev. H. Heras. S. J. M. A. Indian Historical Research Institute 1929.

2. See the Geneology-Table of the Sultans of Gujarat. P. 564. History of Gujarat Vol. I by M. S. Commissariat M.A.I.E.S., Longmans, Green & Co., Ltd., Bombay, 1938.

3. Cambridge History of India. Vol. III pp. 417-18.

Tujarkhan may be identified with Malik-ut-Tujjar who was a governor of Daulatabad at the time of Ala-ud-Din Ahmed Bahmani who establishes his authority in Konkan in 1437 A. D. This Malik-ut-Tujjar was a leader of the foreigners in the Court.[1]

If all these identifications prove to be correct, 'Gurjarādhīs'a-Mahamad Sūltana' (Title 92) may be identified with either Muhammad II (1442-51) or Mahmud I, Begada (1458-1511).

There is a reference to 'Manira' or 'Manira-Vīra' (Title 16) who was harassed by Kālasena in the neighbourhood 'of many caverns surrounded by Sthāna.' If this Sthāna can be identified with the fort of Thalner in Khānadesh, and Manīra can be transliterated as Miran, we can identify the Manira-Vira with either Miran Ādilkhan (1437-1441 A.D.) or Miran Muharik (1441-1457).[2]

The title number 36 refers to one Baggularāja. The name Baggula is equivalent to Bāgula. The Rāṣṭrauḍhavaṁs'a Mahākāvya of Rudrakavi which narrates the exploits of the Bāgulas of Mayūragiri says that the tenth king Gopacandra who was the younger brother of some Kālasena was called Bāgula by the goddess Bhavānī.[3] According to Mr. C. D. Dalal, the learned editor of the work, Baglan seems to mean the country of Bagulas. In the fifteenth century it was subordinate to the Sultans of Gujarat. Every chief of Bāglan is called Baharji. Mr. Dalal thinks that the word may be from Bhairava. In the geneology of the Bāgulas the name of the last king is Bhairavasena.[4]

The title number 37 refers to one Beḍura-Bhūpāla. This Beḍura can be identified with Belur in the Belur taluka of Hassan District, Mysore. Belur or Velāpura was connected with the Hoyaṣalas.[5]

The complete subjugation of the Hoyaṣalā kingdom and the annexation of it to the empire of Delhi were not effected in the reign of Muhammad Tughlak till A.D. 1327. Vīra Ballāla III was liberated and he continued for a short time longer the semblance of a reign at the original capital of Belur and afterwards he retired to Toṇḍanur—the modern Toṇṇur near Seringapatan.[6]

Later on we hear of EreKrishnappa Nayak who is called the foun-

1. Ibid pp. 404-407 and 675.
2. B. G. Vol. XII Khandesh p. 245 and pp. 473-477.
3. R. M. K. Canto 2, verse 27 G. O. S. Baroda.
4. Ibid : Introduction p.XIII f. No. 2 & p. XVII f. n. 1 and p. XXIII see also B. G. XVI Nasik pp. 401-404.
5. B. G. Vol. I part 2 p. 491; see also C. H. I. Vol. III, pp. 471-474.
6. Ibid, p. 510

princes that are referred to in it are Bhillama, Jaitrapāla and his son Singhaṇa. Hemādideva served Singhaṇa (verse 15). This Singhaṇa must be Siṁhaṇa II, son of Jaitugi and grandson of Bhillama.[1]

Both the inscriptions inform us that the Nikumbhavaṁs'a belonged to the Bhāskaravaṁs'a that is the Solar dynasty.

Now the title No. 68 of Kālasena is 'सततपराभूतसूर्यवंशीन्द्रसेनराजराज्य-संस्थापनदृढाङ्गीकार," meaning 'one who had undertaken firmly the task of setting up the kingdom of Indrasenarāja of the Solar dynasty.' Considering the fact that Lakhumādevi belonged to the Nikumbha family we can reasonably indentify the Sūryavaṁs'iya Indrasenarāja with Indrarāja in the geneology of the Nikumbha family. If we take the words 'satata-parābhūta' as qualifying Indrasenarāja it would mean 'Indrasenarāja who was constantly overpowered,' in which case Kālasena becomes a contemporary of Indrasenarāja. This would put Kālasena in the twelfth century A. D. But this is not possible in case of our Kālasena who is a claimant to the authorship of Saṁgītamīmāṁsā, as we shall see. We should therefore, as we have done, take 'satataparābhūta' as qualifying 'rājya' and understand it to suggest that the kingdom was known in the time of Kālasena as one of Indrasenarāja who must have remained famous till then. This Kingdom of Indrasenarāja after him might have been constantly overpowered by the Musalman kings and Kālasena as a son-in-law or a brother-in-law of the family might have helped it to retain or regain the kingdom.[2]

The earlier time-limit of the author of Saṁgītamīmāṁsā :

Before we consider the names of some of the rulers whom Kālasena is supposed to have subdued, we should fix the earlier time limit of the author of Saṁgītamīmāṁsā. It would help in identifying some of these rulers. As we have said, whoever wrote the Saṁgītamīmāṁsā he was well-versed in the Saṁgītaratnākara of S'arṅgadeva and its commentary Kalānidhi by Kalliṅātha, S'ārngdeva lived in the time of Yādava King Siṅghaṇa (1240-1247 A. D.[3]). Kumbhakarṇa, as we shall see, reigned between 1433 to 1468 A. D. The Saṁgītaratnākara was thus about two centuries old for Kumbhakarṇa, and must have reached a position of authority, so that one can understand its being utilized by him. But the adoption in Nṛtyaratnakos'a (p. 124) of a passage from

1. See the geneology of the Yādavas of Devagiri (No. XVIII). Sources of Karnatak History Vol. I., S. Srikantha Sastri, M.A. The University of Mysore, Mysore, 1940.

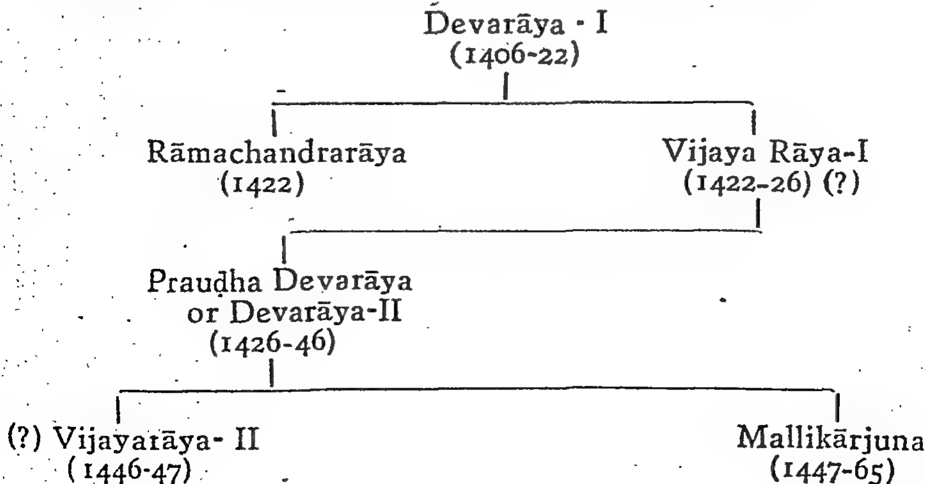
2. See B. G. Vol. XII. Khandesh pp. 241-42 and B. G. Vol. XVI Nasik p. 186 and foot-note 1.

3. S. R. Ānandās'rama Series p. 40.,

the Kalānidhi of Kallinātha might appear as a difficulty. Let us therefore consider Kallinātha's date.

Paṇdit Mangesh Ramkrishna Telang in the Sanskrit introduction to his edition of Saṅgītaratnākara[1] says that Kallinātha might have lived in Vijaynagar between 1400 to 1600 A. D. Mr. Alain Danielou in his foreword to the fourth volume of the Saṅgītaratnākara published in the Adyar Library Series (1953) says that Kallinātha wrote his 'Kalānidhi' at the end of the 15th century (p.v.). But this span of a century does not help in fixing the priority of Kalānidhi to Nṛtyaratnakos'a. Prof. K. A. Nilakanta Sastri who is of the opinion that Kallinātha flourished under Mallikārjuna[2] narrows down the time-span, because Mallikārjuna, according to Nilakanta Sastri's dating, reigned between 1447-65 A. D.[3] This would make Kallinātha almost a contemporary of Kumbhakarṇa. However, from the Pras'asti introducing the author, we learn that Kallinātha was a member of the learned assembly of Immaḍi-Devarāya—son of the Yādava Prauḍha Devarāya who was the son of Vijaya.[4] There is some controversy about the immediate successor of Prauḍha Devarāya or Devarāya II. It appears that this Pras'asti of Kallinātha[5] is not taken notice of by Sewell or

1. Anandasrama Series p. 4.
2. and his grandson Rāma Amātya. p. 354. A History of South India, second edition 1958, Oxford University Press.
3. ibid. pp. 261-2, p. 300.
4. See appendix 3 to the Introduction.
5. There seems to be some confusion about this Immaḍideva or Devarāya. Sewell says, "An inscription bearing a date corresponding to Saturday, August 2, A.D. 1449, at Conjeevaram records a grant by a king called Virapratāpa Prauḍha-Immaḍi-Deva Rāya to whom full royal titles are given.'. Though Nuniz omits the name of the successor Deva Rāya II., Sewell thinks that there had been a Deva Rāya III reigning from A.D. 1444 to 1449, though he regards the point as yet to be settled (see A forgotten Empire—pp. 79-80. See also Appendix c. p. 404). If however, this Pras'asti of Kallinātha had been consulted there would have been no doubt about Devarāya the III who is called 'Pratāpavān Immaḍi-Devarāya' by Kallinātha, and 'Vira-Pratāpa Prauḍha Immadi Deva Rāya' in the inscription of 1449. It is not clear why Prof. K.A. Nilakanta Sastri says that Kallinātha flourished under Mallikārjuna and his grandson Rāma Amātya, who wrote the Svara-melakalanidhi. In the geneology given by Sewell, Mallikarjuna is given after a hypothetical heir who succeeded Devaraya II whose reign is given the period between (?) 1444-1449, while Mallikarjuna is given the period between 1452-53—1464-65 (Appendix 'C' p. 404 Ibid). Prof. Nilakanta Sastri gives the following table of the geneology of the Saṅgama dynasty:--



der of Bellur family.[1] At the time when the empire of Vijayanagar flourished, Bellur was one of the petty states of Karnatak, and Ere Krishnappa Nayaka, its chief. He appears to have been enfoffed by Krishna Deva Rāya in 1524. Ere Krishnappa Nāyak was the son of Baippa Nayaka and Kondommā.[2]

It is likely that the king of Beḍura or Belur mentioned in the Kālasena's Pras'asti might have been Baippa Nāyaka or probably his son Eri Krishnappa Nāyaka.

Thus this inquiry about the times of the kings mentioned in the Pras'astis of Kālasena leads us to put him somewhere between 1430-1530 A. D.

Identity of place-names :

Now let us see if we can locate Kālasena by identifying some of the place-names mentioned in his Pras'astis. The main difficulty in understanding these place-names lies in the Sanskritization of current names and in some cases coining Puranic substitutes for these places. Still it is possible in some cases to restore the original names and identify their present locations. Our first business is to locate Kālasena, and so we shall first take those place-names which are relevant to this purpose.

The title number 93 calls him 'Trisañdhyakṣetrasamudra-sambhava-rohiṇī-ramaṇa'. This means 'moon born out of the sea of Trisañdhya-kṣetra or according to the P. R. K. S'ri-Trisañdhyā. Now, what place is hidden under this name? In a mythical account of the river Godāvarī we find that Devī lives in the form of Trisañdhyā at the source of this river.[3] We can therefore regard Trisañdhya or (dhyā) Kṣetra as the region round about the Tryambaka mountain in which the Godavari has its source. Brahmagiri is an old name of this mountain and so Godāvarī is called Brahmādrijātā. This also properly explains his title No. 7 S'ri Brahmādri-vibhu, which means 'lord of Brahmādri'. Title no. 51 describes him as one who has constructed a beautiful road leading to Brahmagiri and no. 66, as one who has performed many sacrifices near Brahmagiri; while title no. 50, as one who has raised a Kīrti-stambha—Tower of Victory near Tryambakes'wara—the temple of Tryambaka. Title No. 41 refers to him as one who has conquered Añjanādri surrounded by the peaks of the Aṣṭādas'agiri. This Añjanādri is the Añjaneri hill four miles from Tryambaka town and about four-

1. The Aravidu Dynasty of Vijayanagara, Rev. Henay Heras, S.J. M. A. B.G. Paul & Co. Publishers, Madras 1927, p. 9.
2. Ibid. pp. 184-185.
3. Sabdakalpadruma :
त्र्यम्बक (गोदावर्यम्) पीठस्थानविशेषः । अत्र देवी त्रिसन्ध्यामूर्त्या विराजते । यथा, देवीभागवते । ७.३०.६८ गोदावर्यां त्रिसन्ध्या तु गंगाद्वारे रतिप्रिया ।

teen miles from Nasik.[1] What place is meant by Aṣṭādas'agiri is not clear.

Thus we can locate Kālasena in the Nasik district somewhere near Tryambaka. In the Pāṭhyaratnakos'a (p. 69 verse 12) he is called 'Janasthānāvanibhṛt' that is the 'king of Janasthāna'. This region is to be identified with a region which includes Pañcavaṭī and Nasik. Nandlal De describes it as Aurangabad and the country between the Godavarī and the Krishṇā.[2] The title No. 4 of the Pras'asti refers to him as 'one who has rescued Janasthāna of twelve thousand and other parts of the earth'.

So from these titles we can guess that Kālasena was a chief ruling in the Nasik district and region round about.

Now let us see what other place-names can be identified. Title No. 9 represents him as having destroyed all enemies from Agastipura. This Agastipura can be identified with Igatpuri about thirty miles south-west of Nasik.[3] Title No. 15 mentions Kalyāṇapura. Fleet identifies Kalyāṇapura with the modern Kalyāṇi in the erstwhile Nizam's Dominions.[4] But it might be Kalyāṇa in the Thana district. Sthāna in the title No. 16 we have already identified with the fort of Thaner. It may be Thāṇā near Bombay also. S'rīpura in the title No. 17 can be identified with S'irpur in the Ahmadnagar district.[5] Title No. 18 mentions Vāṭikācala and Acala. The latter may be identified with the Achala fort in the Nasik district—the west-most point in the Chandor range, and the former perhaps with Tringalawāḍi.[6]

Madanpura in the title No. 19 may be the Madangad of the Nasik district.[7] Suvarṇagiri of the title No. 20 may be the Suvarṇadurga in the Konkan.[8] Navasāri and Ghanadevi can be identified with the modern Navasari and Gaṇadevi in the Surat district. So also Paṭali of the title No. 22 with the modern Pāṭaḍi. Tārāpura of No. 23 with the town of the same name near Bombay. In Sanjñāpura of No. 25, there seems to be a reference to Sanjñā—the queen of the Sun—who is also called Rājñī or Rāndel in Gujarati. Thus Sanjnāpura is equi-

---

1. Nasik p. 416.
2. Geographical Dictionary of Ancient and Medieval India, p. 80.
3. Geographical Dictionary of Ancient and Medieval India, p. 2 and Nasik p. 444. It is derived from Vigatpuri (?Vikaṭapuri) meaning a city of difficulty.
4. See B. G. Vol. I Part II p. 335 f. n. 1.
5. Ahmadnagar p. 738.
6. Nasik p. 414 and 441.
7. Nasik p. 450.
8. B. G. Vol. I Part II p. 75.

valent of Rāṇīpura or the modern Rander town.[1] Puṇyastambha of No. 28 is Puntamba in the Ahmadnagar district and Saṅgamanira of No. 29 is Saṅgamaner in the same district.[2] S'uklapura of No. 30 may be the place of the same name on the Narmada near Broach in Gujarat. Giripura Dungara of No. 31 may be the modern Dungerpur now in Rajasthan. Damanapura of 32 may be the modern Damman. Baggula of No. 36, we have placed in Bāglān in the Nasik district, and Bedura of No. 37, we have identified with Bellur. Narāna of No. 38 may be identified with the Narnāla, hill fort in the Akola district in Berar.[3] Mahārāṣṭra of No. 42 and Gurjara of No. 43 are well known. Mahoragapura of No. 44 may be the present Nagpur. Vasti and Sopara of No. 47 can be identified with Vasai (Bassain) and Sopārā near Bombay. Triyambaka of No. 50 is Tryambak in the Nasik district. Brahmagiri of No. 51, we have already identified as the mountain which is the source of the Godavari.

There are some place-names in the titles which still remain obscure. But from what we have shown above it is clear that Kālasena had much to do with the regions of the Nasik, Khandesh, and Ahmadnagar districts and the adjacent area.

Conclusion :

Our examination of the longest Pras'asti of Kālasena has shown that Kālasena was the lord of Brahmagiri—the mountain which is the source of the Godavari river, and that he lived sometime between 1430 to 1550 A. D. His vaṁs'a or family was known as Vyāghra-Cāmīkara or more probably Suvarṇa-Vyāghra. The 'golden tiger' might have been the emblem on their flag.[4] His father's name was Mṛgāṇka Tāmarāja and mother's Jasamāmbikā. He was married to Karmāvatī Lashumādevī of the Nikumbha family. He had helped his in-laws in regaining or retaining the kingdom of their ancestor Indrarāja. Unless this Pras'asti is a complete fraud or fabrication, we must say that such a prince must have ruled Janasthāna in the Nasik district in the fifteenth or the sixteenth century. Inspite of our best efforts, however, we have not been able to obtain any other corroborative evidence.

Even the name of Kālasena is something rare, for we have met with only one instance of that name, viz. Kālasena, the elder brother of

1. Surat p. 299.
2. Ahamadnagar p. 733 and p. 736 respectively.
3. I G. XVIII 3-p. 379-380.
4. See B. G. Vol. I. Part II. Suvarṇa Garuḍa—Dhvaja was the emblem of the Yādavas of Devagiri p. 577, Silāhāras p 538, 544, Raṭas p. 552, Suvarṇavṛṣabhadhvaja was the emblem of the Kalacuris p. 469.

Gopacandra Bāgula.[1] But his geneology is so different from that of our Kālasena that he cannot be identified with him. In addition, there is the reference that Kālasena took away the treasures of Baggularāja.

There is mention of one Kālu-ā-deva in the history of Orissa. He was a son of Pratāparudra and might have reigned after him for a year or so in 1540-41.[2]

Considering his relation with the Nikumbhavaṁs'a and the fact that it was subordinate to Yādavas of Devagiri, we may hazard the guess that he might have belonged to some less known branch of these Yādavas and might have ruled in the Nasik district. "The Devagiri Yādavas continued overlords of south and east Nasik till they were conquered by the Musalmans at the close of the thirteenth century."[3] Or he might have belonged to one of the feudatory families of fhe Deccan. Towards the end of the 15th century a Maratha chief seized the fort of Gālnā in Malegaon and plundered the country round. About 1487 Malik Wagi and Malik Ashraf—the governors of Daulatabad retook Gālnā. But in the disturbances that followed the murder of Malik Wagi, the Nasik chiefs again became independent. We are tempted to guess that Kālasena might have been one of these chiefs. But we cannot say anything definitely until we have more information about these Nasik Chiefs; or other feudatory families of the Daccan.[3]

Kumbhakarṇa III

Coming to Kumbhakarṇa popularly known as Kumbhā Rāṇā or simply, Kumbha or Kumbho, we find that we do not suffer from any dearth of sources of information regarding him. We have coins and inscriptions of his reign. There are pras'astis or panegyrics in colophons of his literary works, references in the *Ekalinga māhātmya* and similar works. All this is in Sanskrit. We have Khyāts and poems in old Rājasthānī. In addition we have Muslim historians like Ferista writing about him in Persian.[4]

This abundance of sources, however, presents problems which are difficult to solve. The information gathered from Sanskrit and Rajasthani sources does not, on some important events, tally with the one

1. Rāṣṭrauḍha-Vaṇṣa-Mahā-Kāvya Intro. p. XXII.
2. History of Orissa Vol. 1, pp. 337-38, R. D. Banerji, Calcutta, 1930.
3. Nasik pp. 186-188.
4. See Bibliography in the *Maharana Kumbha* by Harbilas Sarda, Second Edition, 1932, Ajmer. This work and the chapter dealing with Kumbha in the *Rajputāna-kā-Itihāsa*, Vol. II by M. M. Gaurishankar Ojha are good modern works on the subject.

from Persian accounts. Also, the Khyāts in old Rājasthānī of different families present different and sometimes contradictory accounts of events when their respective heroes are concerned.

In spite of these difficulties, however, we are able to gather much reliable information about Kumbhakarṇa and his times. It gives us the picture of a great warrior and ruler, a patron of arts and learning and a builder of magnificent monuments.

Mahārāṇā Kumbha's life was full of storm and stress, even for those stormy times. He was with his father Mahārāṇā Mokal when the latter had started on a campaign to fight Sultan Ahmad Shah of Gujarat who, according to the *Vir Vinod* had, in 1432 A. D., proceeded to Mewar with a large army and was passing through Jheelwara—a part of Mewar—and was plundering the country and breaking temples (M.K. pp. 29-30).[1]

According to the S'ṛngirṣ'i inscription of V.S. 1485 (A.D. 1429) Mokal had defeated Ahamad once before, when he had come to espouse the cause of Firojkhan of Nagor. However Mahārāṇā Mokal, before he could meet Ahamad was, in A.D. 1433, assassinated, when encamped at Bāga, by his uncles Chāchā and Mairā—natural sons of his grandfather Khetsingh by a woman of the carpenter class. They interpreted an innocent inquiry about the name of a particular tree by Mokal as a reflection on their birth and so made a conspiracy with Mahipā to kill Mokal.

Kumbhā as the heir-apparent to the throne had to reach Chitor quickly, which he could do with great difficulty on account of the ensuing fray. His life was also aimed at (p.32) by the conspirators, who pursued him to Chitor, where, however, they found that the gates were closed against them. Chāchā, Mairā and Mahipā returned to Madaria, where Chāchā was proclaimed as the Mahārāṇā of Mewar, Mahipā becoming his Diwan (pp.32-33). But they received no support and had to run away to the hills of Pai Kotra with their families. They threw themselves into the stronghold of Rātākot which they fortified against Kumbhā.

Kumbhakarṇa ascended the throne of Mewar at Chitor in 1433 A.D. He was the eldest son of Mahārāṇā Mokal[2] by his Paramāra queen

1 The page-numbers in this section of the Introduction refer to the Kumbhā Rāṇā, by Harbilas Sarda, Second edition, when not otherwise specified.

2 Mokal had in all seven sons—Kumbhakaran, Kshemakaran, Shiva, Satta, Nathsingh, Viramdeva, Rajdhar (p. 33) and a daughter named Lalbai—married to Achalsingh the Khuchi Chief of Gagroon. It was to help this son-in-law that Mokal had to start on an expedition in which he was eventually murdered (p. 29).

Saubhāgyadevī—daughter of Rājā, son of Jaitmal, the ruler of Rūnkot in Marwar (p. 3). The year of his birth has not been ascertained.

The first concern of Kumbhā after he became the ruler of Mewar must have been to avenge the assassination of his father Mahārānā Mokal. It was, however Ranmal Rathod of Mandor in Marwar, the maternal uncle of Mokal, who took the lead in the matter. On hearing the news of the murder of his nephew, he threw off his turban and putting on a 'phenta' vowed that he would not wear a turban till he had taken full revenge. This was one of the traits of Rajput character. After presenting the Nazar to the new Mahārāṇā he started in pursuit of Chāchā, Mairā and Mahipā towards Pai hills. After strenuous effort Ranmal Rathod succeeded in attacking his enemies in the fort and defeat them—killing Chāchā and Mairā. But Mahipā and Chāchā's son Ekkā escaped and went to Maṇḍu the Capital of Malwa at the time and sought the protection of the Sultan of Malwa, Mahmud Khalji (p. 39).

Kumbhā asked Mahmud Khalji to surrender the traitors to him which, however, the latter refused to do. This started hostilities between Mewar and Malwa which lasted for several years.

Kumbhā sent an army said to consist of a hundred thousand horsemen and fourteen hundred elephants.[1] It was under the command of the valiant Rathod Ranmal. The action took place near Sarangpur—a place between Chitor and Mandsaur in A.D. 1437 (p.50). Mahmud Khalji's army was routed and the Sultan fled and shut himself up in the fort of Maṇḍu. Ranmal's army besieged the fort. When Mahmud Khalji found that he could not hold the fort, he asked Mahipā to go away. Mahipā escaped to Gujarat. Kumbhā took the fort by storm and Ranmal captured Sultan Mahmud Khalji. Kumbhā returned to Chitor in great triumph, carrying the captive Sultan with him. Mahmud was kept as a prisoner for six months in Chitor and then released without any ransom. There have been many comments on this magnanimity which turned out to be misplaced[2].

The construction of a Jaya-Stambha (Pillar of Victory) at Chitor was started to commemorate this victory[3] (51).

There seems to be no contradictory evidence as far as this major event - the victory over the Sultan Mahmud Khalji of Malwa-is concerned.

But this was not the only fight in which he was engaged in

1 ibid p.50. ibid pp. 51-52.
2 See pp. 52-57 M.K.
3 ibid p. 51. See for an opposite account C.H. I. Vol. III P. 528.

these years. Taking advantage of the turmoil caused by the assassination of Mokal and engrossment of the new Mahārāṇā in avenging the murder of his father, Sahas Mal the Rao of Sirohi on the eastern side and the Maha Rao of Bundi on the western side tried to take slices out of the territory of Mewar.

Kumbhā sent a force under Doḍiyā Narsingh, son of Rao Shalji against Sahas Mal. "Narsingh captured the stronghold of Abu, seized Basantgarh and Bhula and annexed the whole of the eastern part of Sirohi territory to Mewar" (p. 79). This victory was obtained before A. D. 1437. as can be inferred from a reference in a copper-plate of A. D. 1437, lying in the Rajputana Museum, Ajmer, which mentions a grant of land in the village Chavarli in the Ajari Pargannah of Sirohi (p. 79).

But the Khyat of Sirohi has a different tale to tell. According to it Kumbhā had usurped Abu where he was allowed to take refuge by Maharao Lākhā of Sirohi when attacked by the Sultan of Gujrat. This account of Sirohi, however, is not trustworthy in as much as Mahārao Lākhā came to the throne of Sirohi in A.D. 1451, while Abu was taken, as noted just before, in A.D. 1437. From a reference in Mirat-i-Sikandari it also becomes clear that Abu was in possession of Kumbhā in A.D. 1456 (p. 80).

Similarly the Haras of Chauhan family, so called after Har Raj of Bundi, threw away their allegiance to Mewar and conquered the fort of Amargarh and molested the Rajputs of Mandalgarh (p.83). But Kumbhā marched against them and took back Amargarh as well as annexed Bamboda, Bundi, Khatgarh and Mandalgarh. Thus the Haras were subdued, though on payment of 'Fauj Kharch' the Mahārao was allowed to keep Bundi. This victory over Bundi must have been achieved in or before the year A.D. 1439, as it is referred to in the Ranakpur Temple-inscription of V.S. 1496, A.D. 1439.

A feud between the Sisodia and Rathod Sardars at the court of Chitor resulted in the conquest and occupation of Marwar.

Ranmal the great general of Maharāṇa Kumbhā, was the eldest of the fourteen sons of Rao Chonda of Mandor and, therefore, the rightful heir to the throne of Marwar. But Rao Chonda at the instigation of his Mohil queen expressed a desire to him that he would like to give the kingdom of Marwar to Kanhā-son of Mohil. Like a dutiful son, he left Mandor with 500 horsemen for Chitor. Maharana Lākhā bestowed a jagir of forty villages on him. Rao Chonda died in A.D. 1410 and Kanhā succeeded him (p. 17). Kanhā died without leaving a son and so there was a quarrel amongst the brothers of Kanhā and their

sons for the kingdom of Marwar. Eventually Ran Mal who was provided with a large army by his nephew Maharana Mokal succeeded in recovering his rightful inheritance and reigned at Mandor (p. 25). But on hearing of the assassination of his nephew and benefactor he, as we have noted, went to Chitor to lead Kumbhā's men to take vengence on the murderers of Rāṇā Mokal.

After his success, he preferred to stay in Chitor to living in the the arid desert of Marwar. Takinga dvantage of his position he surrounded himself and the young Mahārāṇā Kumbhā with Rathods. In course of time his influence at the court created jealousy amongst other nobles of Mewar, particularly Kumbhā's uncle Rāghavadeva, who was his hated rival. Ran Mal managed to get Rāghvadeva murdered by a ruse. This created a great undercurrent of indignation against the Rathods (pp. 40-41). But Ran Mal's brilliant victory over the Sultan of Malwa increased his influence and power in Mewar. It, however, raised apprehensions in the minds of Sisodia nobles and Sardars of Kumbhā. Kumbhā was warned against Ran Mal's iufluence and power with his Rathods everywhere. This might result, he was told, in the usurpation of the throne of Mewar by Rathods. Kumbhā, however, was too sure of the loyaltv of Ran Mal to suspect him. But in course of time he also became suspicious and he welcomed the return of his old uncle Chonda - the elder brother of Rāghavadeva- to Chitor from Malwa.

This Chonda who was the eldest son of Mahārāṇā Lākhā and therefore the rightful heir to the throne of Mewar had given Ran Mal a promise to give up his right to the throne in favour of the son that may be born to his sister Hamsābai at the time of her marriage with Mahārāṇā - Lākhā, a promise which he loyally fulfilled (p. 19). When Hamsābai's son Mokal ascended the throne Chonda was at the head of affairs in Mewar. But on account of zenana and court intrigues instigated by Ran Mal, he left Chitor with his brother Ajja and others for Mandu, making his other brother Rāghavadeva responsible for the care of the young Rāṇā Mokal (pp. 23-24). The Sultan of Malwa gave him the district of Hallar as a Jagir, but when he asked Chonda to lead his army against his nephew Kumbhā, Chonda refused. (p. 50)

This was the man who had returned to Chitor to guard his nephew against Ran Mal and his Rathods. The old Rao of Mandor saw danger, but was too brave a man to yield or escape. He, however, sent away his sons Jodha (who later founded Jodhpur), Kandhal and others from Chitor, asked them to live in the 'taleti', be on their guard and not to come in the fort of Chitor even when he himself called them (p. 63). But the Sisodia nobles of Mewar were determined to remove him and Ran Mal was killed by a ruse just as he

had managed to kill Rāghavdeva (p. 65). This event is commemorated in a couplet :

चुंडा अजमल आविया, मांडू हुं धक आग ।
जोधा रणमल मारिया, भाग सकै तो भाग ।। (p. 65)

Jodhā and his seven hundred Rathods mounted their horses and made for Marwar. Chonda burning with rage at the wrongs done to him by Ran Mal relentlessly pursued Jodhā and his Rathods. He arrived at Mandawar (Mandor) close on Jodhā's heels. Jodhā was unable to make a stand there and escaped to the village of Kāhuni, ten miles from Bikaner (p. 67).

Kumbhā's forces under his uncle Rawat Chonda took possession of Marwar and established Thāṇās-military and administrative posts-all over the land.

The inscription in the temple at Ranakpur, of A. D. 1439 mentions the occupation of Mandor by Kumbhā.[1]

In the year 1438 A. D. after the murder of Ran Mal the Rathods were expelled from Mewar. The same year saw the passing of Marwar into the hands of Mahārāṇā Kumbhā. (p. 68).

Thus within six years of coming to the throne Kumbhā had consolidated his kingdom of Mewar by defeating Chauhan families of Sirohi and Bundi and showed his prowess to the neighbouring Sultan of Malwa by imprisoning him for six months in Chitor. The feud between his uncles and the maternal uncle of his father, Sisodia sardars and Rathods, got him the possession of Marwar, but also lost him his great general and brave warrior Rao Ran Mal Rathod.

In the Rankpur Jain Temple inscription of V. S. 1496 (A. D. 1439-40), summarizing, so to say, the military career of Kumbhā before this date, there are historically important references about places which Kumbhā had conquered and persons who had sued for peace with him. The places which are referred to are as follows : (1) Sarangpur (in Malwa), (2) Nagpur (Nagor), (3) Gagaran (in Kota), (4) Narānaka (Narana in Jaipur), (5) Ajayameru (Ajmer), (6) Mandor (Mandonar in Marwar), (7) Mandalakara (Mandalagadha), (8) Bundi, (9) Khatu (three Khatus— two Badi Khatus and one Chhoti Khatu in Jodhpur and one in Jaipur. Here the reference is probably to Khatu in Jaipur), (10) Chatsu (Chaksu in Jaipur), and (11) Jāna (unidentified)[2].

The most important reference in this Jain inscription, however, is to his title 'Hindu Suratrāṇa'—given by the Sultans of Delhi (Sayyad Mohammad A. D. 1434-1444). and Gujarat (Ahmedshah I. A. D. 1411-1442). As an insignia of this recognition he was given an

1. Later on at the intercession of his grand mother Hansābai, Kumbhā connived at the re-conquest by Jodhā of Mandor in A.D 1445 after seven years occupation pp. 71-76.
2. See Ojha's History of Rajaputana, pp. 607-8.

Ātapatra—royal umbrella. This indicates some early encounters with Delhi and Ahmedabad, in which the Sultans must have made peace with him by recognizing him as an equal, giving him the title of 'Hindu Suratrāṇa'—'Hindu Sultan.'

In these six years, Kumbhā was foresighted enough to repair old fortresses, build new ones and generally strengthen the defences of his kingdom (p. 57). This foresight served him well. Even though he had subdued the chiefs of Sirohi and Bundi, they remained more or less turbulent. But the real danger to his authority and security was from Mahmud Khalji of Malwa who was too ambitious and powerful a man to forget his first defeat and detention in Chitor.

There was a rebellion in Haravati in A.D. 1443 and Kumbhā had to go there to punish the rebels. When he was thus engaged Mahmud of Malwa attacked Mewar and came as far as Kumbhalgarh. There was a fortified temple of Bān Mātā in the village of Kailwara at the foot of the hill. Mahmud attacked this place which was valiantly defended by Thakur Dipsingh for seven days. On the seventh day Dipsingh was killed and Mahmud destroyed the temple. From there he proceeded to Chitor. But he was intercepted at Mandalgarh by Kumbhā who had run post-haste from Hārāvati on hearing news of Mahmud's expedition. The result of the first meeting of the armies was not decisive, but a few days later, in a night attack by Kumbha, Mahmud was defeated and obliged to return to Mandu (pp. 85-87).

According to Ferishta, in the first battle which took place on the 26th April 1443, Mahārāna Kumbhā was unsuccessful; and on the next day Mahmud returned to Mandu with some loot (p. 87 f. n.).

After more than three years, Mahmud of Malwa led another expedition against Mewar. According to Ferishta, on the 11th of October, 1446 A.D. Mahmud went towards Mandalgarh with a large army. While he was crossing the river Banas, Kumbha's army attacked his and after a fierce fight Mahmud was again defeated and compelled to return to Mandu. According to Ferishta, however, the Sultan returned after taking Najarānā and soon after sent Tajkhan with eight thousand cavalry and twenty elephants to attack Chitor (p. 88)[1].

In A. D. 1454, Mahmud of Malwa again attacked Chitor and, according to Hindu sources, was defeated by Kumbhā before he could come near Chitor and was obliged to retreat. According to Ferishta, however, Mahmud of Malwa attacked Chitor, threatened Kumbhā with appointing his own governor, founded a town named Khaljipur, subdued Kumbhā and at the approach of rainy season

1. Ferishta, Vol. IV, p. 215.

returned to Mandu with some gold (pp. 88-89)[1].

In the same year Mahmud of Malwa, at the invitation of the Mussalman residents of Ajmer who complained of religious persecution, invaded the place. Ajmer, the ancient heritage of the Chauhans, was added to the domains of Mewar by Ranmall Rathod with the aid of the forces of Mewar in the time of Maharana Mokal (p. 90)[2]. Gajadhar Singh the governor of the fort of Ajmer valiantly defended it for four days, then came out and attacked Mahmud's army in the open. He was, however, killed in the action and Mahmud got the possession of the fort. But while going to Mandalgarh Kumbha's army attacked him as he came near the river Banas. He sustained a heavy defeat and had to fly to Mandu (pp. 91-92). According to Ferishta, however, 'the retreat was mutually sounded'. The remark of Mr. Briggs on this point is : "The drawn battle mentioned by the Malwa historians must be deemed a defeat" (p. 93).

Idar and Nagor involved Kumbhā in a war with the Sultans of Gujarat.

Leaving alone the semi-legendary account of the connection of Idar with Bāpā Rāval, the founder of Guhelot dynasty of Mewar, the geographical position of Idar in relation to Gujarat and Mewar made it a sort of buffer state between these kingdoms. In fact 'Idar was the Portico of Mewar'.[3] In spite of the fact that the Rathods of Idar were matrimonially related to the Sisodias of Mewar, there were frequent feuds between the two for supremacy.

Rana Hammir (A.D 1326-1364) defeated Jaitrakarṇa of Idar.[4] According to the inscription of A. D. 1460 on the Kīrtistambha of Chitor Kshetrasimgha or Khetā (A. D. 1364–1382), the great grand father of Kumbhā (p. 4), conquered Idar and imprisoned its ruler Rājā Ran Mal (A D. 1346-1404)[5] who was supposed to have defeated Jafar Khan—the first Sultan of Gujarat, The inscription of A.D. 1485 at Ekalingji informs us that he later on placed Ran Mal's son[6] on the the throne of Idar (p. 7). Mokal (A.D. 1420-33) (p. 26) the father of Kumbhā, was aided by Sanwaldas[7]—the Raja of Idar in his expedition against the Sultan of Gujarat (p. 31).

---

1. Ibid, Vol. IV, p. 222.
2. C.H.I., Vol. III, p. 523.
3. See the Letter from Raja Jai Singh of Amber to Rana Sangram of Mewar regarding Idar written in S. 1784 (A.D. 1728), published as appendix in Todd's Rajasthan, Vol. III, p 1825.
4. Rajputane-ka-Itihasa (Hindi), p. 550.
5. Idar rājya no Itihāsa (Guj.), Part I, by Jogidas Ambalal Joshi, (pp. 97-104).
6. Jemāl alias Punjaji A.D. 1404-1428, ibid. pp. 104-109.
7. Sanwaldas was another name of Rao Bhana. He was the younger brother of Rao Punja to whom he succeeded in A.D. 1482 (Ibid p. 111). So in the reign of Mokal he was not the ruler, but must have been sent by his brother Narandas.

According to Mohamadan historians Zafar Khan led a campaign against the Rajput state of Idar and subdued it in A. D. 1400 (C.H.I., Vol. III, p. 295). In A. D. 1418 Ahmad Shah had to march against the combined forces of the Rajas of Idar, Champaner, Mandal and Nandol as well as Hushang of Malwa. The Sultan of Malwa, however, fled away before the battle took place at Modasa. The forces of the Rajas were, somehow, dispersed (C.H.I. Vol. III, p.297). From 1425 until 1428 Ahmad Shah carried on his fights with Idar, which ultimately ended in the reduction of Hari Rai, the rājā, to the condition of a vassal of Gujarat (C.H.I. Vol. III, p. 298). It was Rao Jemal alias Punja who was the rular of Idar at the time of the confederation. Hari Rai seems to be a synonym of Narandas.

Naturally the powerful Ranas of Mewar could not tolerate the subjugation of Idar, the portico to Mewar, by the Sultans of Gujarat and so engaged themselves in hostilities against them whenever there were opportunities.

Kshetrasingh or Kheta (A.D.1364-82) is credited by the bards with a victory over one Humayun. Col. Tod mistook him to be the Delhi monarch Hymayun (Vol. I, p. 321). The Humayun of the bards could not be the Mughal emperor Humayun who was more than a century later than Kheta (C.H.I. Vol III, p. 526). M M. Gaurishanker Oza and Shri Harbilas Sarda identify him with Amin Shah who has become Humayun Shah in some manuscripts (R. I, Vol. R. p.565, M.K.p.5). There is, however, another possibility which can explain the traditions of the bards. Zafar Khan who later became the first Sultan of Gujarat under the name of Muzaffar Khan (A.D. 1392-1410) was addressed as 'Azam Humayun' by the Delhi Sultan on the occasion of his signal victory over Farhat Mulk at Kambhoi in January 1392 A.D. But Kshetra could not have fought with this Zafar but most probably with Zafar Khan[2] of Sonargaon who was the governor of Gujarat from A.D. 1363-1372 in the time of Muhmmad Tughlak. Kshetra Singh could have only fought with him. The mistake of the bards lies in applying the title of Humayun to Zafar of Sonargaon - a title which belonged to Zafar who became the Sultan of Gujarat. It is easy to understand this mistake, caused as it was by the identity of the name.

There is another reference which goes to show that Kshetra Singh must have fought with some of the Muslim chieftains of Gujarat.

---

1. See Commissariat's History of Gujarat, Vol. I, p. 53.
2. There were three governors bearing the title Zafar Khan in Gujarat in the fourteenth century. The first was Malik Dinar who served under Sultan Ala-ud-Din's son Kutub-ud-din Mubarak, being the brother-in-law of the latter. See History of Gujarat by Commissariat Vol. I, pp. 45-46). The other two are mentioned above.

There is a reference in the Kumbhalgaḍha pras'asti to the effect that Kshetrasingh made kings 'Sādala and others' (सादलादिक नृपाः) abandon their cities. M.M. Ojhaji is not sure as to who this king Sādala was; but guesses that he might have been the King Sātala of Toḍā who was a contemporary.[1] But the reference in Kumbhalgaḍha-pras'asti is to 'a number of kings begining with Sādala.' This reference may very well apply to 'Amiran-e-Sādah' the foreign nobles whose revolts in Gujarat were suppressed by Sultan Muhammad Tughlak personally. This term was applied to these leaders of mercenary troops by Persian historians who called them Yuzbashis also. They were something like chiefs in such cities as Baroda, Dabboi, etc. having sway over the whole districts. We think that the reference to 'Sādalādika Nṛpāḥ', being made to abandon their cities is to these 'Amiran-i-Sadah' a term which has been rendered in English as 'Amirs of hundred' or 'centurions'.[2]

If this view is correct, it would show that Kshetrasingh must have had many occasions of fighting with Gujarat. The reference in the inscription of the Chitod Kīrtistambha calling S'ri Raṇamalla 'Gurjaramaṇḍales'vara', as also the one in the inscription at Kumbhal gaḍha saying that Raṇamalla blunted or weakened Dafar Khan (Zafar Khan) the lord of Pattana (Anahilwar Patan) (यं पा (खा) नः पत्तनेशो दफर इति समासाद्य कुण्ठीबभूव ।) point to the same fact.[3]

Rāṇā Mokal (A.D. 1420-1433) according to Shringirishi inscription of A.D. 1428, defeated Padshah Ahmed—the Sultan of Gujarat (A.D. 1411-1442, the founder of Ahmedabad)—irresistible in battle and made him run for his life (पात्साहोह्यदद्दुःसहोऽपिसमरे etc.)[4].

It was, however, Nagor (Nagaur) which particularly antagonized the Sultans of Gujarat to the Mahārāṇas of Mewar. This place played a conspicuous part in the history of medieval India.[5] It was held by Prithviraj Chauhan and after his defeat had passed into the hands of Mahmodan rulers. But Chonda Rathod had conquered and added

---

1. See History of Rajputana, Vol. II. pp. 567-68.
2. See Commissariat's History of Gujarat, Vol. I, pp. 30-31.
3. History of Rajputana, Vol. II, pp. 565-6. This Zafar Khan must be taken to be the Zafar Khan of Sonargaon—the governor of Gujarat (A.D. 1363-72).
4. Maharana Kumbha (p. 27 and p 205.). Sir Wolsely Haig, however, says "Mokal's reign was not distinguished by any feats of arms. The bards attribute to him a victory over the king of Delhi, but no such contemporary king of Delhi was in a position to attack the Rana of Chitor, and if there is any foundation for the bard's story Mokal must be suspected of refusing an asylum to Mahmūd the last of the Tughluq dynasty, when he was fleeing from Delhi, after his defeat by Timur" (C.H.I. Vol III., pp. 527-98)
5. See I.G.I., Vol. XVIII, pp. 297-8. Nagor is a town in Rajasthan and a district, 75 miles north east from Jodhpur city (Comm. History of Gujarat Vol. I. p. 48).

to his dominions this important city and the district of Nagaur, a Muslim stronghold which the dissolution of the kingdom of Delhi, following Timur's invasion of India, enabled him to acquire. But in his fight with Bhāṭis Tānā and Mirā—sons of Raningadeo whom Chonda had slain-he was killed at the gate of the city. Tānā and Mirā, who had accepted Islam, had obtained a force from Khizir Khan, then governor of Multan,with which they attacked their enemy. "The death of Chonda occured in 1408 and Nagaur was then lost to the Rathods" (C H.I Vol III, p. 522). It again came under the rule of Delhi Sultans. Prince Firuz the heir apparent to the throne of Sultan Muhmmad Tughluq married the beautiful sister of Sadhu and Saharan (Sadharan) who were Tank Rajputs. These two brothers accompanied their sister to Delhi and later accepted the creed of Islam. Saharan got the title of Wajih-ul-Mulk (the support of the state) of Didwana. He became governor of Nagaur.[1] Wajih-ul-Mulk had two sons—Zafar Khan (born at Delhi, June 1342) and Shams Khan (Comm. History of Gujarat, Vol. I, p. 48). In 1391 Muhamud Shah, the youngest son of Firuz appointed Zafar Khan[2] to the government of Gujarat who later on became the first Sultan of Gujarat under the name of Muzaffar Shah (1396). Shams Khan his brother became governor of Nagaur after his father Wajih-ul-Mulk.[3] It appears that when Muzaffar Shah become an independent ruler the region of Nagor also came under Gujarat. So the Sultans of Gujarat could not put up with the depredations of the Rathods of Marwar and the Sisodias of Mewar.

We have noted that Chonda Rathod was killed in 1408 at Nagor[4] and that the place was lost to the Rathods But according to Mehta Nainsi's Khyat, Ran Mal—the eldest son of Chonda recovered the place and took up his residence there.[5] But this does not appear to be true, because according to the Samiddheśvara Mahādeva Temple inscription (A.D. 1429) Mahārāṇā Mokal had to invade Nagor. He defeated Firoz Khan son of Shams Khan, and compelled him to accept his suzerainty. It must have been this event which involved Mokal in a fight with Ahamad[6] who could not tolerate the defeat of his uncle's son.

So when Maharana Kumbhā came to the throne of Mewar there was something like a state of war between Gujarat and Mewar and

1. C.H.I., Vol. III., p. 294.
2. According to Sarda, Sadharan, was the name of Zafar Khan when he was a Hindu. p. 43. Maharana Kumbha.
3. Sarda says, 'Shams Khan had obtained from his elder brother Muzaffar Shah, the first Sultan of Gujarat, the province of Nagor' p. 44., Maharana Kumba.
4. According to Sarda 1410 A.D. (p. 24).
5. Ibid, p. 25.
6. Sarda, Maharana Kumbha p. 27.

Nagor was the principal cause. As Ferishta says "Rana's (Kumbha's) family had long wished for an opportunity to humble the chief of Nagoor."[1] This opportunity came to him on account of a family feud for succession between the two sons of Feroz Khan who died in A.D. 1455. Shams Khan his elder son (named after his grandfather) succeeded him, but as Ferishta says, "Mujahid Khan, brother of Feroz Khan, having expelled Shums Khan, kept possession of the estate." So the nephew Shams Khan immediately applied to Rāṇā Kumbhā of Chitor for aid.[1] Kumbhā agreed to help him on condition that Shams Khan acknowledge his supremacy by demolishing a part of the battlements of the fort of Nagor. To this Shams Khan agreed. Mujahid Khan was defeated and he had to fly to Gujarat. Shams Khan after he was placed on the throne of his father by Kumbhā did not carry out the condition of demolishing a part of the fort but later strengthened the fort. This breach of faith brought back Kumbhā with a big army to Nagor. Shams Khan was driven out of the fort which was then demolished by Kumbhā.

Shams Khan naturally ran to his kinsman Sultan Qutb-ud-din at Ahmedabad. The Sultan espoused his cause and sent a large army under Rai Ram Chandar and Malik Gaddai to take back Nagor. The Gujrat army was, however, defeated by Kumbhā and only remnants returned to Ahmedabad to carry the news of the disaster.

Sultan Qutb-ud-din himself, then, marched against Kumbhā who had advanced to Abu to meet him. This was an opportunity for the Rao of Sirohi to seek the aid of Qutub-ud-din to get back Abu from Kumbhā who had wrested it from him. Qutub-ud-din sent Malik Shaaban Imad-ul-Mulk to help the Rao of Sirohi and himself marched to Kumbhalgarh. Kumbhā, knowing of this ruse, attacked and defeated Imad-ul-Mulk with great slaughter and with forced marches forestalled Qutub-ud-din by reaching Kumbhalgarh before him. Imad-ul-Mulk joined Qutub at Kumbhalgarh but they could not take the fortress and so defeated returned to Gujarat.[2] According to Ferishta, however, the Rana was defeated and he sued for peace, consenting to pay a large sum in specie and a quantity of jewels; after which Kootab Shah returned to Ahmedabad.[3] But if Qutub-u-din was really victorious it is difficult to understand why he agreed immediately afterwards to enter into an offensive alliance with Mahmud Khalji—the Sultan of Malwa aginst Kumbhā. Ferishta says, "On his road to Gujarat he was met by Taj Khan, an ambassador from the court of Malwa, who had been sent to propose an offensive alliance against Rāṇā Kumbhā of Chitor, whose country, it was agreed,

1. p. 40. Ferishta. Vol. IV.
2. Sarda, pp 94-99.
3. Ferishta, Vol. IV., p. 41.

should be divided between the allies. All the towns to the southward and lying contiguous to Gujarat, were to be attached to the kingdom of Kootb Shah, while the districts of Mewar and Ahurwara should be reduced and retained by the Malwa forces. The treaty was solemnly signed by the respective envoys at the town of Champanere, in the latter end of the year 860 (A.D. 1456)'[1].

This was the most formidable struggle in the generally stormy military career of Rāṇā Kumbhā. Mahmud Khalji of Malwa, till now, had made five attempts to avenge his defeat by Kumbhā in A.D. 1437-38 (Sarda p. 93), but Kumbhā had proved too powerful for him. When he must have come to know that even the powerful Sultan of Gujarat Qutub-ud-din could not have a clear victory over Kumbhā, Mahmud must have thought of forming an alliance with Qutub-ud-din. This, according to Mirat-e-Sikandari, he did in the name of Islam to defeat the infidel. (History of Rajputana, Vol. II, p. 616. Mirat-e-Sikandari Baily's History of Gujarat, p. 150).

In pursuance of this treaty of Champaner, Qutub-ud-din in AH. 861, A.D. 1457, marched towards Chitor from the Gujarat side via Abu and Mahmud Khalji from Malwa. According to Ferishta, "The Rana was desirous of opposing the Malwa army first, but Kutub-Shah's approaches were so rapid, that he reached Sirohy and entered the hills, compelling the Rana to come to a general action, in which the Rajput army was entirely defeated; he was defeated a second time, and fled to the hills, whence he deputed an ambassador, and purchased the retreat of the king of Gujarat by the payment of fourteen maunds of solid gold, and two elephants" (Ferishta, Vol. IV, p. 42).

About Mahmud Khalji also, Ferishta says that he was induced to retreat to Malwa by a reasonable donation[2].

This account scarcely fits in with the object of the treaty of Champaner which was to divide the kingdom of Mewar between the Sultans of Gujarat and Malwa. It seems rather strange that both the Sultans should have been satisfied with merely rich Nazarāṇās. It seems that they had failed to achieve their object in spite of their ccombined forces, one attacking Mewar from the west and the other froms the east. The accounts of Rasika-priyā and the Chitor Kīrti-stambha, (Sarda, p. 103) which say that the combined armies of Gujarat and Malwa were defeated by Kumbhā, are, therefore, more credible.

Thus by the end of A.D. 1457, Kumbhā was able to consolidate his kingdom of Mewar, containing the Sultans of Gujarat and Malwa to the limits of their respective kingdoms; though the

1. Ferista, Vol. III, pp. 41-42.
2. Ferista, Vol. IV, p. 42.

of Mahmud Khalji I of Malwa, he says "He (Mahmud) earned a reputation as a builder, and one of his works was a column of victory at Maṇḍu erected to commemorate his success against Rāṇā Kumbhā of Chitor. The more famous column of victory at Chitor is said to commemorate victories over Mahmud of Gujarat and Mahmud of Malwa. If this is so 'it, like some tall bully lifts its head and lies'. Mahmud I failed to capture Chitor but the Rana never gained any important victory over him."[1]

The Bombay gazeteer, Vol. I, gives a connected view of these two towers of victory. As far as architectural evidence is concerned 'there stands a paved ramp crowned by a confused ruin facing the east entrance to the great Mosque of Hoshang Ghori. As late as A. D. 1843, this ruin is described as a square marble chamber. Each face of the chamber had three arches, the centre arch in two of the faces being a door. Above the arches the wall was of stone faced with marble. Inside the chamber the square corners were cut off by arches. No roof or other trace of superstiucture remained. This chamber seems to be the basement of the column of victory which was raised in A. D. 1443 by Mahmud I (A. D. 1432-1469) in honour of his victory over Rana Kumbha of Chitor.'

According to the writer of the above account the special interest of Mahmud's column lies in being 'if not the original, at least the cause of the building of Kumbhā Rana's still uninjured Victory Tower which was completed in A. D. 1454 at a cost of £ 900,000 in honour of his defeat of Mahmud' (p. 361).

The authorities for Mahmud's Tower of victory are Ferishta's History, Abul Fazal's Ain-i-Akari and Memoirs of Jahangir. But none of these authorities says that it was built to commemorate Mahmud's victory over Rāṇā Kumbhā in A. D. 1444. Ferishta says, "Sooltan Mahmud, having ordered public prayers to be read on this occasion, determined to defer the siege of Chitor till the next year, and returned without molestation to Mandoo, where he built a beautiful pillar seven stories high, in front of a college, which he founded opposite the musjid of Sooltan Hooshang" (p. 210).

It is quite clear that this is not a description of a victory which requires to be commemorated by a column of victory. The original Persian text of Ferishta no where calls it a 'Fateh Minara' as it would have been, if it were a tower of victory. Nor do Abul Fazal and Jahangir give it any such name. All of them call it 'Minara-e-Haft Manzari'—'a minaret with seven aspects or sides', an octagonal structure. It is not even called a building with seven stories as it is

1 According to Sir W. Haig—The successes of the Gahlots against Malwa were gained by Sangram Singh, not by Kumbha, against Mahmud II, not Mahmud I (p. 361 C. H I, Vol. III Ch. IVX).

wrongly translated by Briggs, though the structure had seven stories. But the point mentioned just now that no where a word like 'Fateh' is associated with this Minaret is important. For we find that usually such a word is found associated with a thing if it is done to commemorate a victory. For example, Akbar calls the village of Sikri 'Fathabad' (town of victory) after his conquest of Gujarat, which was soon exchanged in both popular and official use for the synonymous Fathpur (V. Smith–Akbar the great Mogul, p. 75). Similarly Khān Khaānān after his victory over the ex-Sultan Muzaffar III in 1584 called the garden that he laid out on the site of the battle, near Sarkhej 'Fateh Bagh' (Commissariat's History of Gujrat, Vol. II, p. 29). Mandelslo in his Travels in Western India (A. D. 1638–3a p. 47) also refers to this event and calls the garden 'Zyreit bag' (Jitbag) or 'Fateh Wadi' garden of victory. The place is still known as Fateh-Wadi.

Thus, as far as we know, there is no clear evidence to call this 'Minaret' a Minaret of Victory. Considering the description of Ferishta it would be highly incongruous of Mahmud Khilji to call it a tower of victory. He must have had a greater sense of propriety than his modern English historians would credit him with.

As to Mahmud's Tower being 'the cause' of the building of Kumbha's Jayastambha, the dates would go against it. As we have seen the second storey of the Jaya Stambha was completed in A. D. 1442–43 and so the foundation of the Jayastambha must have been laid in A. D. 1439–40, if not earlier. So, if at all, Mahmud meant this 'Haft-Manzir' to be a tower of victory, he must have taken his inspiration from Kumbhā's Jaya Stambha which was in course of construction in A. D. 1444[1]. So we must conclude that there is no basis for the remark of Sir W. Haig that the Jaya-stambha of Kumbha like some tall bully lifts its head and lies'.

The Jaya-Stambha of Kumbha has been graphically described by Tod in his Annals of Rajasthan. He compares it to the Kutb-Minar of Delhi which though much higher, is, in his opinion 'of a very inferior character' (Vol. III, pp. 1819–1820). James Fergusson compares it with 'Trajan at Rome,' and says that 'the Jayastambha is in infinitely better taste as an architectural object than the Roman example, though in sculpture it may be inferior' (p. 59). Fergusson's description may be quoted here, as it succintly describes this monument. "It stands

1 Percy Brown taking Haft Manjir to be a Tower of Victory, however, says, "It is interesting to note that a little earlier the Chitor Rana himself had erected that famous and beautiful tower, the Jaya Stambha at Chitor to celebrate his vicotry over Mahmud, a fact which evidently inspired the latter to counter this when the opportunity occured, with his own triumphal column" (Indian Architecture-Islamic Period, p. 63).
James Fergusson is of the opinion that "Muhammadans adopted the plan of erecting towers of victory to commemorate their exploits. So also did the Chinese, whose nine storyed pagodas are almost literal copies of these Indian towers, translated into their own peculier mode of expression" (His. of Indian and Eastern Architecture, Vol., II p. 60).

affairs of Nagor again involved him in a fight with Qutub-ud-din of Gujarat who after this adventure suddenly died in A. D. 1459 (May 25, Sarda, p. 104).

× × × × × ×

So for we have reviewed the career of Kumbhā as a warrior and general and as a consolidator of his vast dominion. His claim to greatness, however, does not depend upon his military achievements and martial spirit only. He was also a great builder—builder of fortresses and temples, one who raised the great Jayastambha, Tower of Victory, at Chitor. What is, however, remarkable about him is that he is credited with the authorship of several works in Sanskrit. There was no doubt that he was a great patron of learning.

We shall, first, briefly notice the monuments that he built and encouraged also the prosperous Jain community of his kingdom to build.

Col. Tod, relying probably on some current tradition, says, "Of eighty four fortresses for the defence of Mewar thirty two were erected by Kumbhā" (p. 336, Vol. I). We cannot say how far this tradition of thirty two is right, but we get definite information about three forts from inscriptions and references in literary works. For example, the pras'astis at the end of each Ullāsa of N. R. K. mention two forts—Kumbhala-meru and Chitrakūṭa (Chitod).

The first he almost built anew and therefore Kumbhā is described as 'S'rīmat-Kumbhalameru-navina-nirmita-parājita-Su-meruṇā (p. 107) one who has defeated the excellent Meru mountain by the new construction of resplendent Kumbhalameru'. Naturally the fort was named after him and it has remained famous in tradition and history as Kumbhala-gaḍha or Kumbhalamer. According to tradition the original fort was built by the Jain king Samprati the grand son of As'oka Maurya. Considering the tradition about Mauris or Mauryas in Mewar[1] there may be some truth in this. There is no doubt, however, that as Tod says, it was 'on the site of a more ancient fortress' (p. 336). Its natural position and the works that Kumbhā raised made it impregnable. That Kumba saw its great strategical importance in those times of constant warfare, particularly, with Mohamadan rulers who were spreading their power around him, shows his insight as a general.

Kumbhā started the construction of the fortress in V.S. 1500, A.D. 1443–44. It was completed on the 13th of the dark half of Chaitra V. S. 1515, A.D. 1458–59. The architect of Kumbhalameru was Maṇḍana—that famous writer on Vāstu-S'āstra—Science of architecture (Sarada, p. 128).

---

1. See Tod's Annals of Rajasthan, Vol., I., p. 265. History of Rajputana, Vol. I., pp-412-13.

As to Chittodgadh, he strengthened its defences and built seven Polas or Pratolis (gates) named Rāma, Hanumān, Bhairava, Lakṣmi; Cāmuṇḍā; Tārā; and Rājapolas. He constructed a road over which carriages could easily go upto the fort. Before his time there was only a foot-path (Sarda, p. 138). Kumbhā seems to have attached great importance to this road because the reference to Chitod in his pras'astis of N.R.K. pertains to its building. The road going up the ascent to the fort is compared to a 'path leading up to heaven', and therefore Chitod which is an earthly paradise is truly made so by it (S'rimate - Chitrakūṭa - Bhauma Svargatā-Yathārthikaraṇa-cārutara-pathena).[1]

After conquering Abu from the Parmārs, he built there also a fortress in V. S. 1509, A. D. 1452–53. It has become famous as Achalgaḍh. On the descent from Achalgaḍh to Delvāḍā there are four statues—an equestrian statue of Kumbhā, two of two other Mahārāṇās and the fourth, bigger than these, of the Purohita or family priest of Kumbhā (p. 123).

Chitod is famous for its two magnificent towers : one the Tower of glory—Kirtistambha and the other Tower of Victory—Jayastambha. This Jayastambha is also popularly known as Kirtistambha. The first, formerly known as 'S'ri-Allaṭa's and locally known as Kaitān Rāṇi's was erected by Jija - a Bagherwal Mahajan of the Jain community and dedicated to the first Jain Tirthankara Ādinātha. Most probably it belongs to the 12th century A.D.[2]

The second Jayastambha was erected by Mahārāṇā Kumbha to celebrate his victory over Sultan Mahmud Khilji I of Mandu (Malwa) in A. D. 1438. The Tower was completed, according to the Pras'asti of the Jayastambha, on Māgha Suda 10th Puṣya Nakṣatra V. S. 1505. A. D. 1449. An inscription in the perforated window in the second storey of the Tower shows that the second storey was completed in V. S. 1499, A. D. 1442-43 (Sarda p. 139). Thus it took about six years to build from the third to the topmost ninth storey. So it may be reasonably guessed that the first two stories might have taken about two to three years and so the foundation of the Tower must have been laid in about 1439–40 A. D. This means that Mahārāṇā, Kumbhā, after a year or so of his victory, started building his Jaya-Stambha, may be even earlier, in the first flush of his great victory.

The remarks of Sir Wolseley Haig (Chapter IVX of the Cambridge History of India, Vol. III (P. 361)) on Kumbhā's Tower of Victory require to be considered here. Estimating the achievements

1 Pp. 107, 229 In some references we have tanvikaraṇa-meaning—'a road making it easy to reach tne earthly paradise - Citrakūṭa.

2 Fergusson's History of Indian and Eastern Architecture - Vol. II, p. 118; see also Percy Brown's Indian Architecture Vol.I, 2nd Edn. pp. 149-50.

on a basement, 47 ft. sq. and 10 ft. high, being nine storeys in height each of which is distinctly marked on the exterior. A stair in the interior communicates with each, and leads to the two upper storeys, which are open, and more ornamental than those below. It is 30 ft. wide at the base, and 122 ft. in height; the whole being covered with architectural ornaments and scluptures of Hindu divinities to such an extent as to leave no plain parts, while at the same time this mass of decoration is kept so subdued, that it in no way interferes either with the outline or the general effect of the pillar" (p. 60)[1].

Vincent Smith calls this Jaya-Stambha 'an illustrated dictionary of Hindu mythology' because it contains 'all the denizens of the Hindu pantheon, with their names attached'. It has also 'images representing the seasons, rivers, weapons and other things unpublished.' Smith thinks 'that whenever this series of sculptures shall be reproduced it will be invaluable as a key to Brahmanical iconography.' In his opinion, however, it is not likely to contribute much to the history of art, because, the better class of art in Rajputana dates from an earlier period ending with the twelfth century' (p. 127 A History of Fine Art in India and Ceylon. Second Edition, Oxford, 1930).

From the inscription in the second storey of the Jaya-Stambha referred to above, it appears that the architect of this magnificent edifice was one Jaitra, assisted by his two sons Nāpā and Punjā (p. 139-Sarda). Whether the Nāpā mentioned here is the same as Nāthā—brother of Maṇḍana is not clear (Sarda p. 137 f.n.).

A treatise on the architecture of Jaya-Stambhas attributed to Kumbhā was engraved on stone-tablets and fixed in the lower part of this Jaya-Stambha (p. 168)[2].

The Praśasti of this Jaya-Stambha was engraved on several black marble tablets (Tod, p. 1819). Of these only two are now in existence—the first and the last but one containing verses 1 to 28, & 168 to 187 respectively. We know from a transcript of this praśasti by a Pandit in V.S. 1735, A.D. 1678 that many more slabs existed at the time.[3] Keśava Jhoting—son of Narahari of the Bhṛgu family was entrusted with the composition of the praśasti, but he died before it was completed. The latter part was composed by his son Maheśa on Monday the 5th day of the dark half of Mārgaśiṣa, V. S. 1517 (A. D. 1460-61). This Praśasti is a fine historical poem

1 "The dome that now crowns this tower was substituted for an older dome since I sketched it in 1839" P. 60. Fergusson.

2 'A part of the first tablet, found at Chitor and since deposited in the Udaipur Museum, gives Maharana Kumbhakaran's description of the characteristic features of Towers according to Jaya and Aparājit" (M.K. p. 164).

3 This manuscript was in possession of M.M. Gaurishanker Oza. See his History of Rajputana Vol. II p.631.

giving us the geneology of the Gohils and a detailed account of the achievements of Kumbhā—political, literary and architectural.

Kumbhā was a deeply religious man and built several grand temples. In Chitor, Kumbhalgarh and Abu, in each of these, he built a temple known by the common name of Kumbhasvāmi. Of these the magnificent temple at Chitor was built in V S. 1505, A.D. 1448–49.

In Kumbhalgarh he built a temple known as Māmdeva temple in A. D. 1458. It is in the gorge below the fort of the brow of the mountain overlooking the pass. It contains a pras'asti inscribed on immense slabs of black marble which together with the pras'asti on the Jaya-Stambha in Chitor gives us important material for the family of Guhil (p. 135).

Kumbha also renovated several other temples, particularly the temple of Ekalingji—his tutelary deity,

He also built several Kuṇḍas and stepwells more or less near the temples. Near the Māmadeva temple in Kumbhalgarh he constructed a Kuṇḍa (a reservoir) at whose edge he met his death.[1]

Colnel James Tod refers to the long repose and high prosperity enjoyed during the reign of Hamir, the great-great-grand father of Kumbhā, by the subjects of Mewar, judging by their magnificent public works, when a triumphal column (the Jain Kirtistambha) must have cost the income of a kingdom (p. 320 Vol. I). This remark holds equally good for the reign of Kumbhā also. Not only did he himself build magnificent structures but encouraged his subjects to do the same by giving all sorts of facilities. For example, Shah Guṇaraj, a favourite of Kumbhā built temples in Ajahari (Ajari), Pindarvāṭaka, and Salera. He also renovated many old temples. Velā—son of Shah Kelā—built a temple dedicated to S'antinātha, the sixteenth Jain Trithankara, in Chitor. He also built the graceful and richly carved Singar Chauri or Vedi near the Jaya Stambha (pp. 160-161. M. K.).

A Saiva temple on a hill near the Sema village, not far from Ekalingji, and Jain temples in Vasantpur, Bhula, and other places were built by Kumbha's subjects.[2]

The most magnificent of the temples built in Kumbha's reign is the Jain temple at Ranakpur. This place is about six miles to the south of Sadari. The temple is situated in a valley piercing the western flank of Aravalli. The choice of the site itself shows a fine sense of natural beauty.

1 See Oza's History of Rajputna, Vol. II pp. 620-625).

2 M K. p., 161, See also Oza's History of Rajputana, Vol. II, p. 625 f. n. 1)

From the inscription on a stone-slab built up in a pillar to the left of the entrance into the temple, dated V. S. 1496 A D. 1439-40, we learn that it was built by Kumbhā's favourite Sanghapati Dharanāka. It was dedicated to the first Jain Tirthankar Ādinātha. To quote"...by his (Kumbhakarṇa's) favourite Saṅghapati Dharanāka ... [by] "Ratnā his (Dharanākas) elder brother, being directed by the king Rāṇā S'hri Kumbhakarṇa, the *temple*, founded in his (Kumbhakarṇa's) own name, of the first lord of the Yuga–S'ri Chaturmukha-*called Trailokya-dīpaka, was* by his order and favour, *bulit* in the city of Ranapura and was consecreated by S'rī Somasundara Sūri.........This is made by the architect Depāka" (p. 117–Bhavanagar Inscription.)[1]

This Trailokya–Dīpaka built by the architect Depāka for Dharanaka and Ratnā is one of the most outstanding pieces of Hindu architecture.[2]

James Fergusson says "Indeed, I know of no other building in India, of the same class, that leaves so pleasing an impression or affords so many hints for the graceful arrangement of columns in an interior.[3]

Now we come to the literary works attributed to Kumbha."

The very first epithet of Kumbha in the Pras'astis of N. R. K. as well as Rasika Priyā (p 174) is—'श्री सरस्वतीरससमुद्रसमुद्भूतकैरवोद्याननायक०' 'leader in the garden of lotuses growing out of the water of Sarasvati.' So he liked to be known first and foremost as a leader amongst men of learning. The Ekalingamāhatmya would credit him with the knowledge of the Vedas, Smṛtis, two Mīmamāṃsās, Nāṭyas'astra of Bharata with its four Bhāṣyas Ratanākara, other works on music and dancing, Arthas'āstra, the eight grammars, Upaniṣads, the Dars'anas, and Literature in general. It calls him Sarvajṇa omniscient, but more appropriately Prajṇā-sphurat-Kesari–a lion throbbing with intellect' (M. K. p. 223, vs. 172, 173, 202).

This same work attributes to him the authorship of a commentary on Gitagovinda, four dramas in the languages of Karṇāṭaka, Medapāta and Mahārāṣtra.

The Pras'asti on the Jayastambha of Chitod confirms all this and mentions as his works Sangīta-rāja, Sūḍa-prabandha, and a comme-

---

1 ......राणा श्री कुंभकर्ण सर्वोर्वीपतिसार्वभौमस्य विजयमानराज्ये तस्य प्रसादपात्रेण... प्राग्वाटवंशावतंससं० सागरसुत सं० कुरपाल भा० कामलदे पुत्र परमार्हत्त सं० धरणाकेन ज्येष्ठभ्रातृसं० रत्ना भा० रत्नादे पुत्र सं० लाषा........जावड़ादिप्रवर्द्धमानसंतानयुतेन राणपुरनगरे राणा श्रीकुंभकर्णनरेन्द्रेण स्वनाम्ना निवेशिततदीयसुप्रसादादेशतस्त्रैलोक्य-दीपकाभिधानः श्रीचतुर्मुखयुगादीश्वरविहारः कारितः प्रतिष्ठितः......श्रीसोमसुन्दरसूरिभिः कृतमिदं च सूत्रधारदेपाकस्य । etc. pp. 114–115 Bhavanagar Inscriptions.

2 It is a pleasure to note that the temple has been appropriately and carefully renovated so as to maintain its original beauty by the Jain Community under the able leadership of Seth Kasturbhai Lalbhai of Ahmedabad.

3 For the description of the temple, its plan and views, see Fergussons's History of Indian and Eastern Architecture, Vol. II, pp. 45-48.

ntary on Caṇḍī-S'ataka. It also calls him a master-poet and expert Vīṇā player, a dramatist who wrote all the ten varieties of Rūpakas mentioned by Bharata. In dancing he followed the school of Nandikes'vara and propitiated S'iva in that way (M. K. pp. 219–220, 156–160, 166–168) that is by dancing before him or causing dance performences in that style. He has thus the title of Abhinava-Bharatācārya which is mentioned in the pras'astis of Saṃgītamīmāṁsā including N. R. K. His work on the architecture of Jayastambhas inscribed on the slabs of his Jayastambha at Chitor has already been mentioned.

Thus Kumbha has to his credit two commentaries—one on Gītagovinda called Rasikapriyā and the other on Caṇḍīs'ataka, four dramas in Mewadi, Kannad, Mahārāṣṭrī and Rūpakas illustrating different types of drama and a work on architecture and also Sangīta mīmāṃsā. Of these, manuscripts of Saṃgītamīmāṃsā, Gītagovinda—commentary Rasikapriyā, and a slab bearing a portion of his work on architecture are discovered. The Rasikapriyā has been published in the Kavyamala series of Nirnaya Sagara Press. The first volume of Saṃgītamīmaṃsā Pāṭhya Ratna Kos'a has been published in the Ganga Oriental series and the N. R. K. is being published in R. P. S.[1]

Like most of us, Shri Harabilas Sarda marvels as to how could Kumbhā find leisure to study all this and time to write these works, engaged constantly as he was in warfare, building forts, defending and ruling his kingdom (p. 163). There have been kings in Indian History like Harṣa, Bhoja etc. who were supposed to be learned and authors of literary works. (But as to Harṣa, his authorship of the three plays had been suspected even in old times and it was supposed that a poet named Dhoyi wrote them). We have seen that the authorship of Saṃgītamīmāṃsā is contested, between Kālasena and Kumbhakarṇa. We have advanced a guess that probably the author was some paṇḍita who first dedicated it to Kumbhakarṇa and later to Kāla-sena whose identity, however, we are not able to discover. The Ekalinga māhātmya was composed in the time of Kumbha and we find the following verses common in Pāṭhyaratnakoṣa and Ekalinga Māhātmya :

य: श्रुत्वा भरतं चतुर्भिरखिलैर्भाष्यैश्च रत्नाकरं
सोपायं वहुशो विलोक्य निखिलान्नाट्यागमान् वीक्ष्य च ।
गौरीनन्दिमते, मतङ्ग शिवसंगीते सशार्दूलके
दृष्टवा दंतिलदुर्गशक्तिभणितीस्ता नारदोक्तीरपि ॥

(पा. र. को. पृ. ६ श्लो० ३६; एकलिङ्ग महात्म्य)
(श्लो० २०२ quoted in M. K. p. 223)

A comparative study of Saṃgītamīmāṃsā and Ekalinga Māhā-

[1] Pandit Amritlal Bhojak of Patan informs me that he has in his possession a manuscript of the commentary on Caṇḍī s'ataka.

APPENDIX I

रसरत्न-कोश

(Ms. 9933. Central Library, Baroda)

पत्र ३ b. इति श्रीराजाधिराजश्रीकुंभकर्णविरचिते संगीतराजे षोडशसाहस्र्यां संगीतमीमांसायां रसरत्नकोशे रसलक्षणोल्लासे रसस्वरूपनिरूपणं नाम प्रथमं परीक्षणं ॥

पत्र ७ a. इति श्रीराजाधिराजश्रीकुंभकर्णमहीमहेन्द्रेण विरचिते संगीतराजे षोडशसाहस्र्यां संगीतमीमांसायां रसरत्नकोशे रसलक्षणोल्लासे रससत्त्वनिरूपणं [नाम] द्वितीयं परीक्षणम् ॥

पत्र ८ b. इति श्रीमहाराजाधिराजश्रीकुंभकर्णविरचिते संगीतराजे षोडशसास्र्यां संगीतमीमांसायां रसरत्नकोशे रसलक्षणोल्लासे रसाश्रये परीक्षणं तृतीयम् ॥

पत्र १५, १६. इति श्रीराजाधिराजश्रीकुंभकर्णविरचिते संगीतराजे षोडशसाहस्र्यां संगीतमीमांसायां रत्नकोशे रसोल्लासे विभावादिपरीक्षणं नाम चतुर्थं परीक्षणं ॥ श्री ॥

इति श्रीसरस्वतीरससमुद्भूतकैरवोद्याननायकेन, अभिनवभरताचार्येण मालवांभोधिमाथमंथमहीधरेण, योगिनीप्रसादासादितयोगिनीपुरेण, मंडलदुर्गोद्धरणोद्धृतसकलमंडलाधीश्वरेण, अजयजयाजयविभवेन, यवनकुलकालकालरात्रिरूपेण शाकंभरीरमणपरिशीलनपरिप्राप्तशाकंभरीतोषितशाकंभरीप्रमुखशक्तित्रयेण, नागपुरोद्धूलनधर्षितनागपुरेण, अर्बुदाचलग्रहणसंदर्शिताचलाद्भुतप्रतापेन, गुर्जराधीश[धीर]त्वोन्मूलनप्रचंडपवनेन, श्रीमत्कुंभलमेरुनवीननिर्मितसुमेरुणा, श्रीचित्रकूटभौमस्वर्गयथार्थीकृतरचितचारुतरपथेन श्रीमेदपाटसमुद्रसंभवरोहिणीरमणेन, अरिराजमत्तमातंगपंचाननेन, प्ररूढपत्रयवनदवदहनदवानलेन, प्रत्यर्थिपृथिवीपतितिमिरततिनिराकरणप्रौढप्रतापमार्तंडेन वैरिवनितावैधव्यदीक्षादानदक्षोद्दंडकोदंडदंडमंडिताखंडभुजदंडेन भूमंडलाखंडलेन, श्रीचित्रकूटविभुना, अभ्युच्छ्तमनरेण गज-नरतुरगाधीशराजत्रितयतोडरमल्लेन, वेदमार्गस्थापनचतुराननेन, याचककल्द्रुमेण. वसुंधरोद्धरणादिवराहेण परमभागवतेन, जगदीश्वरीचरणकिंकरेण, भवानीपतिप्रसादाप्तापसादवरप्रसादेन, राजगुर्वादिविरुदावलीविराजमानेन राजाधिराजमहाराजश्रीमोकलनंदनेन राजाधिराजश्रीकुंभकर्णमहीमहेंद्रेण विरचित उल्लासः पूर्णः ॥ उल्लासश्च समाप्तिं समगादिति विततमतीनामभिमतसिद्धिरस्तु ॥ श्री ॥

पत्र २० a. इति श्रीराजाविराजश्रीकुंभकर्णमहीमहेंद्रेण विरचिते संगीतराजे षोडशसाहस्र्यां संगीतमीमांसायां रसरत्नकोशे विभावोल्लासे नायकभेदवर्णनं नाम प्रथमं परीक्षणं समाप्तं ॥

पत्र ३१ b. इति श्रीराजाविराजश्रीकुंभकर्णेन विरचिते संगीतराजे षोडशसाहस्र्यां संगीतमीमांसायां[रस]रत्नकोशे विभावोल्लासे नायिकावर्णनं नाम द्वितीयं परीक्षणं समाप्तं ॥

पत्र ३५ a. इति श्रीमहीमहेंद्रश्रीकुंभकर्णविरचिते संगीतराजे षोडशसाहास्र्यां संगीतमीमांसायां रसरत्नकोशे विभावोल्लासे चेष्टादिविभावनं नाम तृतीयं परीक्षणं समाप्तं ॥

पत्र ३८ a. इति श्रीसरस्वतीरससमुद्भूतकैरवोद्याननायकेन, अभिनवभरताचार्येण मालवांभोधिमाथमंथमहीधरेण, मंडलदुर्गोद्धरणोद्धृतसकलमंडलाधीश्वरेण, अजयजयाजय-

विभवेन, यवनकुलकालरात्रिरूपेण शाकंभरीरमणपरिशीलनपरिप्राप्तशाकंभरीरमणपरिशीलनपरिप्राप्तशाकंभरीतोषितशाकंभरीप्रमुखशक्तित्रयेण, नागपुरोद्धूलनधर्षितनागपुरेण, इत्यादि विरुदावलीविराजमानेन श्रीमहाराजाधिराजमहाराणश्रीकुंभकर्णमहीमहेंद्रविरचिते संगीतराजे षोडशसाहस्र्यां संगीतमीमांसायां रसरत्नकोशे उद्दीपनविभावपरीक्षणं नाम चतुर्थं समाप्तं ॥ उल्लासश्च समाप्तः ॥

पत्र ४७ a. इति श्रीसरस्वतीरससमुद्भूतकैरवोद्याननायकेन, अभिनवभरताचार्येण, मालवांभोधिमाथमंथमहीधरेण, अजयमेरुजयाजयविभवेन, यवनकुलकालकालरात्रिरूपेण, शाकंभरीरमणपरिशीलनपरिप्राप्तशाकंभरीतोषितशाकंभरीप्रमुखशक्तित्रयेण, नागपुरोद्धूलन धर्पितनागपुरेण, अर्बुदाचलग्रहणसंदर्शिताचलाद्भुतप्रतापेन, गूर्जराधीशधीरत्वोन्मूलनप्रचंड-पवनेन, श्रीमत्कुंभलमेरुनवीननिर्मितसुमेरुणा, श्रीचित्रकूटभौमस्वर्गीकृतयथार्थीकरणरचित-चारुपथेन, प्ररूढपत्रयवनदवदहनदवानलेन, मेदपाटसमुद्रसंभवरोहिणीरमणेन, अरिराजमत्ता-मातंगपंचाननेन प्रत्यर्थिपृथिवीपतितिमिरततिनिराकरणप्रौढप्रतापमार्तंडेन, वैरिवनितावैधव्य-दीक्षादानदक्षोद्दंडकोदंडदंडमंडिताखंडभुजदंडेन, भूमंडलाखंडलेन, श्रीचित्रकूटविभुना, अध्युष्ट-तमनरेश्वरेण, गजनरतुगाधीशराजत्रितयतोडरमल्लेन, वेदमार्गस्था[प]नचतुराननेन, याचक-कल्पनाकल्पद्रुमेण, वसुंधरोद्धरणादिवराहेण, परमभागवतेन, जगदीश्वरीचरणकिंरेण भवानी-पतिप्रसादादाप्तापसादप्रसादेन, राजगुर्वादिविरुदावलीविराजमानेन, राजाधिराजमहाराण-श्रीमोकलनंदनेन ॥ इति श्रीराजाधिराजश्रीकुंभकर्णमहीमहेंद्रेण विरचिते संगीतराजे षोडश-साहस्र्यां संगीतमीमांसायां रसरत्नकोशे अनुभावकोल्लासे प्रथमं नाम तृतीयं अनुभाव-परीक्षणं ॥

५० B. इति श्रीराजाधिराजकुंभकर्णमहीमहेंद्रेण विरचिते संगीतराजे षोडशसाहस्र्यां संगीतमीमांसायां रसरत्नकोशे अनुभावोल्लासे अवस्थानिरूपणं नाम तृतीयं परीक्षणं समाप्तं ।

पत्र ५३ b. इति श्रीराजाधिराजश्रीकुंभकर्णविरचिते संगीतराजे षोडशसाहस्र्यां संगीतमीमांसायां रसरत्नकोशे अनुभावोल्लासे सात्त्विकभावपरीक्षणं तृतीयं समाप्तं ॥

पत्र ५५ a. इति श्रीसरस्वतीरससमुद्भूतकैरवोद्याननायकेन, अभिनवभरताचार्येण, मालवांभोधिमाथमंथमहीधरेण: योगिनीप्रासदासादितयोगिनीपुरेण, मंडलदुर्गोद्धरणोद्धृतसकल-मंडलाधीश्वरेण, अजयमेरुजयाजयविभवेन, यवनकुलकालरात्रिरूपेण, शाकंभरीरमणपरि-शीलनपरिप्राप्तशाकंभरीप्रमुखशक्तित्रयेण, नागपुरोद्धूलनधर्षितनागपुरेण, अर्बुदाचलग्रहण-संदर्शिताचलाद्भुतप्रतापेन, गुर्जराधीशधीरत्वोन्मूलनप्रचंडपवनेन, श्रीमत्कुंभलमेरुनवीननिर्मित सुमेरुणा, श्रीचित्रकूटभौमस्वर्गीकृतयथार्थीकरणरचितचारुतरपथेन, मेदपाटसमुद्रसंभवरोहिणी-रमणेन, अरिराजमत्तमातंगपंचाननेन, प्ररूढत्रयवनदहनदवानलेन, प्रत्यर्थिपृथिवीपतितिमिर-ततिनिराकरणप्रौढप्रतापमार्तण्डेन, वैरिवनितावैधव्यदीक्षादानदक्षोद्दंडकोदंडदंडमंडिताखंड-भुजदंडेन, भूमंडलाखंडलेन, श्रीचित्रकूटविभुना, अध्युष्टतमनरेश्वरेण, गजनरतुरगाधीशराज-त्रितयतोडरमल्लेन वेदमार्गस्थापनचतुराननेन, याचककल्पनाकल्पद्रुमेण, वसुंधरोद्धरणादि-वराहेण, परमभागवतेन, जगदीश्वरीचरणकिंकरेण, भवानीपतिप्रसादाप्तापसादवरप्रसादेन राजाधिराजश्रीमहाराजमहाराणाश्रीमोकलनंदनेन राजाधिराजश्रीकुंभकर्णेन विरचिते संगीत-

tmya might show many such common verses, but as the E. M. is not published we could not investigate the matter. The author of this Māhātmya is also not known. Any way, for the present, we may ascribe the authorship of all these works to Kumbhā until evidence for a contrary opinion is found.

Whatever might have been the fact as to his literay authorship, there is not doubt that Kumbhā was a great patron of learning, and fine arts, such as music, dancing and acting, poetry and drama as well as architecture, sculpture and painting. We have names of two poets—Atri and Mahes'a father and son who composed the pras'asti of his Jaya Stambha. Maṇḍana—the architect of Kumbhalmeru wrote eight books on architecture (1) Devatāmūrti prakaraṇa, (2) Prtāsāda maṇḍana, (3) Rāja–vallabha, (4) Rūpa–maṇḍana, (5) Vāstu–maṇḍana, (6) Vāstu S'āstra, (7) Vāstu–Sāra and (8) Rūpavtāra. This Maṇḍana was a son of S'ri S'ekhara and was a native of Gujarat and brought to Mewar by Mahārāṇā Mokala (M. K. p. 167 f. n. 1). Maṇḍana's son Govinda wrote Uddhāra–dhoraṇi, Kalānidhi, and Dvāra Dīpkiā. Maṇḍana's brother Nāthā wrote Vāstumanjarī.

Thus the reign of Kumbha was glorious not on account of his military achievements only but also on account cf the great creative activity in literature, arts and music as well as in building magnificent forts, temples, wells and chiselling of fine sculptures and carvings. It was one of those periods of Indian History which encourage great cultural activities. This period may be compared with the times of Siddharāja and Kumārapāla of Gujrat, and Munja and Bhoja of Malwa.

× × ×

Mahāranā Kumbha was murdered by his eldest son Udaysingha when he was seated on the masonry of a tank near the temple of Māmadeva (Kumbhasvamin) in Kumbhalameru. This last event of a tempestuous life took place in A.D. 1468 (M. K. p. 110, p. 107). It appears that about that time Kumbhā was not normal in his behaviour. It is said that Kumbhā one day saw near the temple of Ekalingji a cow dancing, and making a long loud sound, usually made by cows when they feel satisfied. He said nothing at the time but after returning to Kumbhalameru he began to repeat constantly 'कामवेनु तांडव करिय' 'Kāmadhenu dances'. A Chārana composed a stanza purporting that the Gāyatri in the form of the cow who was very unhappy on account of the terror of Muslims began to dance for joy at the door of S'ankara when Kumbha killed them :

कुंमेण राण हणिया कलम, आजस उर डर उतरिय ।
तिण दीह द्वार शंकर तणौं, कामवेनु तंडव करिय ॥

(M. K. p. 109)

This story of the Chārana seems to be a later fabrication but the abnormality of Kumbha's mind in his last days seems to be a fact.

Whether this was insanity or a sort of religious frenzy, it is difficult to say. Possibly the mental stress and strain that Kumbha must have undergone in his unusually stormy life coupled with his emotional temparament might have resulted in a sort of softening of the brain, or probably his deeply religious nature, coupled with a sort of megalomania might have seen in the ordinary behaviour of a cow, the dance of the Divine Cow which plays such a great part in the mythology pertaining to Bāpā given in the Ekalinga Purāṇa. Whatever it may be, it was a tragic sequel of such an eventful and splendid life.

His political career started with a flight for life when his father Mahārāṇa Mokal was murdered by his uncles Chāchā and Māira. He witnessed the court-intrugues which resulted in the murder of his uncle Rāghava who was something like his guardian, the sequel of which was the murder of his brave general Rathod Ranmall. To this was added the constant anxiety of keeping down rebellions in his own dominion and warding off the invasions of his two powerful neighbours, the Sultan of Malwa on the East and the Sultan of Gujrat on the West. That he was equal to this task shows that he possessed intelligence, courage and valour to an uncommon degree. But the strain and stress involved in keeping down the court-intrigues and ambitions of his own sons as well as that of fighting external enemies might have ultimately broken even his strong nerves. It is possible to guess that the intrigues of his sons must have been the last straw. The provocation to the parricide Udaysingha requires to be sought out. The explanation probably lies in the court-intrigues in which the Mahārāṇa and his sons were involved.

Whatever that may be, it is tragic to note that Mahārāna Kumbhā's regin started with the murder of his father by his uncles and ended with his murder by his son.

The estimate of Mahārāna Kumbhā's personality cannot be better expressed than in the words of Colnol Tod who says that 'he had the energy of Hamir, Lakha's taste for the arts, and a genius comprehensive as either and more fortunate (p. 334 Vol. 1). In accordance with the Hindu ideal of a hero, he has been thus described by the poet of the Jaya-Stambha-pras'asti :

धीरोद्धतं समिति संसदि धीरशान्तं
मित्रेषु भूपतिषु भूपमुदारधीरम् ।
कान्तासु[1] धीरललितं कलयन्ति सन्तो
ये नायकावलिगुण[व्रज] जन्मभूमिम् ॥ १६५

(quoted in M. K. p. 220)

---

1 This inscription and the Rasika-priyā mention the names of two queens of Kumbhā—Kumbhaldevī and Apūrvadevī.

राजे षोडशसाहस्र्यां संगीतमीमांसायां रसरत्नकोशे अनुभावोल्लासे प्रवासाद्यनुभाववर्णनं चतुर्थं परीक्षणं ।। उल्लासश्च समाप्तः ॥ श्री

पत्र ६१ b. इति श्रीकुंभकर्णमहीमहेंद्रेण विरचिते संगीतराजे षोडशसाहस्र्यां संगीतमीमांसायां रसरत्नकोशे व्यभिचारिसंज्ञकोल्लासे निर्वेदादिरसनिरूपणं प्रथमं परीक्षणं ।।

पत्र ६२ b. इति श्रीराजाधिराजमहामंडलेश्वरमहाराणाश्रीकुंभकर्णमहीमहेंद्रेण विरचिते संगीतराजे षोडशसाहस्र्यां संगीतमीमांसायां रसरत्नकोशे अनुभावोल्लासे प्रतिरसं भावावस्थानसूचकं नाम द्वितीयं परीक्षणं समाप्तं ।।

पत्र ६५ b. इति श्रीराजाधिराजश्रीकुंभकर्णमहीमहेंद्रेण विरचिते संगीतराजे षोडशसाहस्र्यां संगीतमीमांसायां रसरत्नकोशे व्यभिचारिभावोल्लासे रससंकरादिनिरूपणं तृतीयं परीक्षणं ॥

पत्र ६६ b. यं प्रासूत समस्तराज[ं]शिरोरत्नं नृपो मोकलः
सौभाग्यैकनिकेतनं गुणवतीसौभाग्यदेवीसुतः ।
आचंद्रार्कमुद(? दे)हेतुरधिकं संगीतराजश्चिरं
जीयात् कुंभनर[रे]श्वरेण रचितस्तेन(? नो)विकल्पाश्रु(ल्पद्रु)णा ।। १४

श्रीमद्विक्रमकालतः परिगते नंदाभ्रभूतूतत्क्षितौ (तक्षितौ) ।
[१५०६]
वर्षेऽक्षाद्रचनलेंदुशाकसमये १३७४ संवत्सरे च ध्रुवे ।
ऊर्जे मासि तिथौ हरे रविदिने हस्तर्क्षयोगे तथा
योग(गे)चाभिजिति स्फुटोऽयमभवत्संगीतराजाभिधः ।। १५
ग्रंथेऽत्र पञ्चोत्तररत्नकोशा
उल्लाससंज्ञा खलु विंशतिश्च ।
परीक्षणानां गदिता ह्यशीतिः
संख्यासहस्राणि च षोडशात्र ।। १६ ।।

चंडीशश [तक] व्याकरणेन गीतगोविंदवृत्त्या सुकृतं यदत्र ।
संगीतराजेन च तेन चंडी हरिर्हरः प्रीतिमवाप्नुवन्तु ।। १७ ।।

इति श्रीसरस्वतीरससमुद्भूतकैरवोद्याननायकेन अभिनवभरताचार्येण मालवांभोधिमाथमंथमहीधरेण योगिनीप्रसादासादितयोगिनीपुरेण मंडलदुर्गोद्धरणोद्धृतसकलमंडलाधीश्वरेण अजयजयाजयविभवेन यवनकुलाकालकालरात्रिरूपेण शाकंभरीरमणपरिशील[न]परिप्राप्तशाकंरीप्रमुखशक्तित्रयेण नागपुरोद्धूलनधर्षितनागपुरेण अर्बुदाचलग्रहणसंदर्शिताचलाद्भुतप्रतापेन गूर्जराधीशधीरत्वोन्मूलनप्रचंडपवनेन श्रीमत्कुंभलमेरुनवीननिर्मितसुमेरुणा श्रीचित्रकूटभौमस्वर्गीकृतयथार्थकरणरचितचारुतरपथेन मेदपाटसमुद्रसंभवरोहिणीरमणेन अरिराजमत्तमातंगपंचाननेन प्ररूढपत्रयवनदवदहनदवानलेन प्रत्यर्थिपृथिवीपतितिमिरततिनिराकरणप्रौढप्रतापमार्तंडेन वैरिवनितावैधव्यदीक्षादानदक्षोद्दंडकोदंडमंडिताखंडभुजादंडेन भूमंडलाखंडलेन श्रीचित्रकूटविभुना अध्युष्टतमनरेश्वरेण गजनरतुरगाधीशराजत्रितयतोडरमल्लेन वेदमार्गस्थापनचतुराननेन याचककल्पनाकल्पद्रुमेण वसुंधरोद्धरणादिवराहेण परमभागवतेन जगदीश्वरीचरणकिंकरेण भवानीपतिप्रसादाप्तापसादवरप्रसादेन राजगुर्वादिविरुदावलीविराजमानेन राजाधिराजमहाराजमहाराणाश्रीमोकलनंदेन राजाधिराजश्रीकुंभकर्णेन विरचिते संगीतराजे षोडशसाहस्र्यां सगीतमीमांसायां रसरत्नकोशे संचारिभावोल्लासे ग्रंथसमाप्ति (?:) परीक्षणं चतुर्थं समाप्तं ।। शिवमस्तु ॥ श्री

वाद्यरत्नकोश

(Ms. 9934. Central Libarary, Baroda)

पत्र ६ a. इति राजाधिराजश्रीकुंभकर्णमहीमहेंद्रेण विरचिते संगीतराजे षोडशसाहस्र्यां संगीतमीमांसायां वाद्यरत्नकोशे ततोल्लासे एकतंत्रीलक्षणं प्रथमं परीक्षणं समाप्तं ।।

पत्र १३ a. इति श्रीराजाधिराजश्रीकुंभकर्णमहीमहेंद्रेण विरचिते संगीतराजे षोडशसाहस्र्यां संगीतमीमांसायां वाद्यरत्नकोशे ततोल्लासे नकुलादिपरीक्षणं समाप्तं ।।

पत्र २४ a. इति श्रीराजाधिराजश्रीकुंभकर्णमहीमहेंद्रविरचिते संगीतराजे षोडशसाहस्र्यां संगीतमीमांसायां वाद्यरत्नकोशे ततोल्लासे मत्तकोकिलालक्षणं तृतीयं परीक्षणं ।।

पत्र ३७ a. इति श्रीसरस्वतीरससमुद्भूतकैरवोद्याननायकेन, अभिनवभरताचार्येण, मालवांभोधिमाथमंथमहीधरेण, योगिनीप्रसादासादितयोगिणीपुरेण, मंडलदुर्गोद्धरणोद्धृतसकलमंडलाधीश्वरेण, अजयमेरुजयाजेयविभवेन, यवनकुलाकालकालरात्रिरूपेण, शाकंभरीरमणपरिशीलनपरिप्राप्तशाकंभरीप्रमुखशक्तित्रयेण, नागपुरोद्धूलनधर्षितनागपुरेण,अर्बुदाचलग्रहणसंदर्शिताचलाद्भुतप्रतापेण, गूर्जराधी[शधी]रत्वोन्मूलनप्रचंडपवनेन, श्रीमत्कुंभलमेरुनवीननिर्मितपराजितसुमेरुणा, श्रीचित्रकूटभौमस्वर्गतायथार्थीकरणरचितचारुपथेन, मेदपाटसमुद्रसंभवरोहिणीरमणेन, अरिराजमत्तमातंगपंचानेन, प्ररूढपत्रयवनदवदहनदवानलेन, प्रत्यर्थिपृथिवीपतितिमिरततिनिराकरणप्रौढप्रतापमार्तंडेन, वैरिवनितावैधव्यदीक्षादानदक्षोद्दंडकोदंडदंडमंडिताखंडभुजादंडेन, भूमंडलाखंडलेन, श्रीचित्रकूटविभुना, अध्युष्टतमनरेश्वरेण, गजनरतुरगाधीशराजत्रितयतोडरमल्लेन, वेदमार्गस्थापनचतुराननेन[न], याचककल्पनाकल्पद्रुमेण, वसुंधरोद्धरणादिवराहेण, परमभागवतेन, जगदीश्वरीचरणकिंकरेण, भवानीपतिप्रसादाप्तापसादवरप्रसादेन, राजगुर्वादिबिरुदावलीविराजमानेन, राजाधिराजश्रीमोकलेन्द्रनंदनेन, राजाधिराजश्रीकुंभकर्णमहीमहेंद्रेण विरचिते संगीतराजे षोडशसाहस्र्यां संगीतमीमांसायां वाद्यरत्नकोशे ततोल्लासे किंनरीपरीक्षणं चतुर्थं समाप्तं ।। ततोल्लासः समाप्तः ।।

पत्र ४२ b. इति श्रीराजाधिराजश्रीकुंभकर्णविरचिते संगीतराजे षोडशसाहस्र्यां संगीतमीमांसायां वाद्यरत्नकोशे सुशि(षि)रोल्लासे वंशनिरूपणपरीक्षणं प्रथमं समाप्तं ।।

पत्र ५२ a. इति श्रीकुंभकर्णविलासे (? विरचिते) संगीतराजे षोडशसाहस्र्यां संगीतमीमांसायां वाद्यरत्नकोशे सुशि(षि)रोल्लासे वंशसंबंधिस्वरोत्पत्तिपरीक्षणं द्वितीयं समाप्ति समगादिति ।। श्री ।।

पत्र ५३ a. इति श्रीराजाधिराजश्रीकुंभकर्णविरचिते संगीतराजे षोडशसाहस्र्यां संगीतमीमांसायां वाद्यरत्नकोशे सुशि(षि)रोल्लासे दोषपरीक्षणं तृतीयं ।।

पत्र ५५ a. इति श्रीसरस्वतीरससमुद्भूतकैरवोद्याननायकेन, अभिनवभरताचार्येण, मालवांभोधिमाथमहीधरेण, योगिनीप्रसादासादितयोगिनीपुरेण, खंडलदुर्गोद्धरणोद्धृतसकलमंडलाधीश्वरेण, अजयमेरुजयाजयविभवेन, यवनकुलाकालकालरात्रिरूपेण, शाकंभरीरमणपरिशीलनपरिप्राप्तशाकंभरीतोपितशाकंभरीप्रमुखशक्तित्रयेण, नागपुरोद्धूलनधर्षितनागपुरेण, अर्बुदाचलग्रहणसंदर्शिताचलाद्भुतप्रतापेण, गौर्जराधीशधीरत्वोन्मूलनप्रचंडपवनेन, श्रीमत्कुंभलमेरुनवीननिर्मितपराजितसुमेरुणा श्रीचित्रकूटभौमस्वर्गतायथार्थीकरणरचितचारुतरपथेन, मेदपाटसमुद्रसंभवरोहिणीरमणेन, अरिराजमत्तमातंगपंचानेन, प्ररूढपत्रयवनदवदवा-

नलेन, प्रत्यर्थिपृथिवीपतितिमिरततिनिराकरणप्रौढप्रतापमार्तंडेन, वैरिवनितावैधव्यदीक्षादानदक्षोद्दण्डकोदंडदंडमंडमंडिताखंडभुजादंडेन, भूमंडलाखडनेन श्रीचित्रकूटविभुना, अभ्युष्टतमनरेश्वरेण, गजनरतुरगाधीशराजत्रितयतोडरमल्लेन, राजगुर्वादिविरुदावलीविराजमानेन, राजाधिराजश्रीकुंभकर्णमहीमहेंद्रेण विरचिते संगीतराजे वाद्यरत्नकोशे सुषि(पि)रोल्लासे पादादिपरीक्षणं चतुर्थं समाप्तं। उल्लासश्च समाप्तः ॥

पत्र ६३ b. इति श्रीराजाधिराजमहीमहेंद्रश्रीकुंभकर्णविरचिते संगीतराजे वाद्यरत्नकोशे घनोल्लासे मार्गतालपरीक्षणं प्रथमं समाप्तं ॥

N.B. Three Parikṣaṇas of this Ullāsa are wanting. So does the whole of Avanaddhollāsa. The Ms. at the beginning and at the end is named Ghanollāsa-pustakam.

पाठ्यरत्नकोश

(Ms. 9932. Central library, Baroda)

पत्र ५ b. इति श्रीराजाधिराजश्रीकुंभकर्णविरचिते संगीतराजे पाठ्यरत्नकोशे अनुक्रमणिकोल्लासे कर्तृप्रशंसानाम प्रथमं परीक्षणं ॥

पत्र ८ a. इति श्रीराजाधिराजमहीमहेंद्रश्रीकुंभकर्णविरचिते पाठ्यरत्नकोशे अनुक्रमणिकोल्लासे आरंभसमर्थनं नाम द्वितीयं परीक्षणं ॥

पत्र ८ b. इति श्रीराजाधिराजमहीमहेंद्रविरचिते संगीतराजे पाठ्यरत्नकोशे अनुक्रमणिकोल्लासे संगीतस्तुतिर्नाम तृतीयं परीक्षणं ॥

पत्र १० b. सरस्वतीरससमुद्भूतकैरवोद्याननायकेनाभिनवभरताचार्येण, मालवांभोधिमाथमंथमहीधरेण मेदपाटसमुद्रसंभवरोहिणीरमणेन, अरिराजमत्तमातंगपंचाननेन आरुढपत्रयवनदवदहनदवानलेन, प्रत्यर्थिपृथिवीपतितिमिरततिनिराकरणप्रौढप्रतापमार्तण्डेन, वैरिवनितावैधव्यदीक्षादानदक्षोद्दंडकोदंडदंडमंडिताखंडभुजादंडेन भूमंडलाखंडलेन, श्रीचित्रकूटविभुना॰ अभ्युष्टतमनरेश्वरेण, गजनरतुरगाधीशराजत्रितयतोडरमल्लेन, वेदमार्गस्थापनचतुराननेन, याचककल्पनाकल्पद्रुमेण, वसुंधरोद्धरणादिवराहेण, परमभागवतेन,जगदीश्वरीचरणकिंकरेण, भवानीपतिप्रसादाप्तापसादवरप्रसादेन, राजगुर्वादिविरुदावलीविराजमानेन, राजाधिराजश्रीकुंभकर्णविरचिते श्रीसंगीतराजे पाठ्यरत्नकोशेऽनुक्रमणिकोल्लासेऽनुक्रमणिको नाम चतुर्थं परीक्षणं ॥ उल्लासश्च प्रथमः समाप्ति समगादिति विततमतीनामभिमतसिद्धिरस्तु ॥

पत्र १३ a. इति श्रीराजाधिराज॰ पदोल्लासे पदपरीक्षणं प्रथमं ॥

पत्र १४ a. इति श्रीराजाधिराजश्रीकुंभकर्ण॰ वाक्यपरीक्षणं नाम द्वितीयं समाप्तं ॥

पत्र २० a. इति श्रीराजाधिराजश्रीकुं॰ पदोल्लासे रसपरीक्षणं तृतीयं समाप्तं ॥

पत्र २३ b. इति श्रीराजाधिराजश्रीकुं॰ परिभाषानाम चतुर्थं परीक्षणं परिपूर्णं पदोल्लासश्च समाप्तः ॥

पत्र २५ a. इति श्रीराजाधिराजश्रीकुं॰ छंदउल्लासेऽनुष्टुप्परीक्षणं प्रथमं समाप्तं ॥

पत्र २६ b. इति श्रीमहाराजाधिराजश्रीकुं० छंद उल्लासे वृत्ताशासनं परीक्षणं नाम द्वितीयं समाप्तं ।।

पत्र ३१ b. इति श्रीराजाधिराजश्रीकुंभकर्णविरचिते तत्त्वप्रदीपे पाठ्यरत्नकोशे छंद उल्लासे आर्यावलोकनं नाम तृतीयं परीक्षणं ।।

पत्र ३२ a. इति श्रीराजाधिराजमहीमहेंद्रश्रीकुंभकर्णविरचिते छंद उल्लासे प्रस्तार-परिपाटी नाम चतुर्थं परीक्षणं ।। छंद उल्लासश्च तृतीयः समाप्तः ।।

पत्र ३२ b. इति श्रीमहाराजाधिराजाश्रीकुंभकर्णविरचिते संगीतराजे पाठ्यरत्न-कोशेऽलंकारोल्लासे उद्देशपरीक्षणं प्रथमं समाप्तं ।

पत्र ३८ a. इति श्रीराजाधिराजश्रीकुंभकर्णमहीमहेंद्रेण विरचिते संगीतराजे षोडशसाहस्र्यां संगीतमीमांसायां पाठ्यरत्नकोशेऽलंकारोल्लासे लक्षणपरीक्षणं द्वितीयं ।।

पत्र ३९ a. इति श्रीमहाराजाधिराजश्रीकुंभ० शब्दालंकारपरीक्षणं तृतीयं ।।

पत्र ४१ a. इति श्रीराजाधिराजन(?)अरिराजमत्तगजसिंहेन, मेदपाटसमुद्रसंभवरोहिणीरमणेन, अभिनवभरतेन, अश्वपति-नरपति-गजपति-राजत्रयतोडरमल्लेन, राजगुरु-चापगुरु-सेल-गुरु इत्यादिविरुदावलीविराजमानेन, महीमहेंद्रश्रीकुंभकर्णेन विरचिते संगीतराजे षोडशसा-हस्र्यां संगीतमीमांसायां पाठ्यरत्नकोशे अलंकारोल्लासे दोषगुणोल्लासः पाठ्यरत्नकोशश्च समाप्तिं समगादिति विततमतीनामभिमतसिद्धिः ।।

The portion of the Ms. from Folios 51 to 87 appears to be Gītaratnakoṣa. There is no puṣpikā or colophon giving the name or titles at the end. Kumbha and Citrakūṭa are mentioned in stray verses.

APPENDIX II

आस्ते कर्णाटदेशः सुविमलयशसा पूरिताशः पृथिव्यां
कावेरीकृष्णवेणीतरलतरतरङ्गार्द्रदक्षोत्तरांसः ।
हृष्टः संश्लिष्टपूर्वापरनिजवपुषा प्राच्यपाश्चात्यवेले
पाथोनाथप्रसक्तिप्रवलितनिखिलस्वाङ्गसौभाग्यलक्ष्मीः ।। ५ ।।

भोगिस्थिता भोगवती च नित्यं
सुपर्वरम्या दिविजस्थलीव ।
पुरीह विद्यानगरी चकास्ति
तुङ्गातरङ्गैरभितः पवित्रा ।। ६ ।।

एतां शास्ति प्रशस्तप्रतिभटमुकुटप्रोतनिर्यत्ननिर्यद्-
रत्नज्योतिःप्रवालावनमनचटुलाटोपतापप्रतापः ।
कर्णाटाघाटलक्ष्मीचरणपरिलसत्पौरुषोत्कर्षशाली
प्रौढः श्रीदेवराजो विजयनृपसुतो यादवानां वरेण्यः ।। ७ ।।

विश्वंभराभाग्यकृतावतार-
स्तस्यास्ति पुत्रो यशसा पवित्रः ।
संगीतसाहित्यकलास्वभिज्ञः
प्रतापवानिम्मडदेव एषः ॥ ८ ॥

सुवर्मेव सभा यस्य समुल्लासिकलाधरा ।
गान्धर्वगुणगम्भीरा विद्याधरविनोदिनी ॥ ९ ॥

वाचा गेयेन नित्यं समुचितकुसुमैस्तोपिताधङ्घ्रियोपः
कीर्त्या व्याप्तस्त्रिलोकीमभिनवभरताचार्यलक्ष्मप्रपूर्व्या ।
पादाग्रे वीरभूपामणिगणविलसत्सर्ववाग्गेयकार-
स्तस्यामस्ति प्रशस्तश्रुतिगणचतुरः कल्लिनाथार्यवर्यः ॥ १० ॥

[संगीतरत्नाकरः । चतुरकल्लिनाथविरचितकलानिध्याख्यटीकासंवलितः ॥ संपादको मङ्गेशशर्मा आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः ग्रन्थाङ्कः ३५, पूना खिस्ताब्दाः १८९६।



NOTE : Saṃgitarāja was completed in V.S. 1509, S'aka 1374, on Kārtika darkhalf 11 (month ending in Pūrṇimā), Sunday, October 8. 1452 A.D: (See p. 40). The day and the date given in the M.K. (p. 208) Wednesday the 13th day of the dark half of Kārtika......11th October, 1456 A.D.'—are not correct.

INDEX

(The numbers refer to pages of the Introduction ; 'n' refers to Foot Note.)

मेदपाटदेशाधीश्वर-श्रीकुम्भकर्णनृपति-विरचितः

नृत्यरत्नकोशः ।

तृतीयोल्लासे प्रथमं परीक्षणम् ।

[मङ्गलम् ।]

यस्मिन् समस्तकरणानि न कारणानि
योऽनङ्गहारविजयी च नवाङ्गहारः ।
यश्चाङ्गहाररुचिरामलनृत्यकारी
नारीकृतार्धतनुमीशमहं नुवे तम् ॥ १

करणान्यथ वक्ष्यन्ते नृत्यस्य करणानि वै ।
शुद्धानि भरतोक्तानि वसुखेन्दु[1] १०८ मितानि च ॥ २

करपादाद्यङ्गकस्य क्रिया रसनिरन्तरा ।
सविलासानुकरणं नृत्यादि[2] करणं तु तत् ।
अथोद्देशं[3] वदे तेषां लक्षणं च सविस्तरम् ॥ ३

*

[शुद्धकरणानि ।]

तलपुष्पपुटं लीनं वर्तितं वलितोरु च ।
मण्डलस्वस्तिकं वक्षःस्वस्तिकं स्वस्तिकं ततः[4] ॥ ४

आक्षिप्तरेचितं पृष्ठस्वस्तिकं चार्धपूर्वकम् ।
स्वस्तिकं दिक्स्वस्तिकं चोन्मत्तं[5] समनखं ततः ॥ ५

अपविद्धं सञ्चितं च तथा स्वस्तिकरेचितम् ।
निकुट्टमर्धनिकुट्टं कटिच्छिन्नं कटीसमम् ॥ ६

विक्षिप्ताक्षिप्तकं नाम भुजङ्गत्रासितं तथा ।
अलातं निकुञ्चितं च घूर्णितं चार्धरेचितम् ॥ ७

ऊर्ध्वजान्वर्धमत्तल्लि स्याद्रेचकनिकुट्टितम् ।
मत्तल्लि ललितं चैव वलितं दण्डपक्षकम् ॥ ८

---

1 AB put १०८ after वसु । 2 AB °त्याद° । 3 C °द्देशवदे° । 4 B मतः । 5 AB उन्नतं ।

नूपुरं पादापविद्धं भुजङ्गत्रस्तरेचितम् ।
[भुजङ्गाञ्चितच्छिन्ने च भ्रमरं दण्डरेचितम् ।]
चतुरं च कटिभ्रान्तं व्यंसितं क्रान्तमित्यपि ॥ ९
वैशाखरेचितं पार्श्वनिकुट्टं चक्रमण्डलम् ।
वृश्चिकं लतावृश्चिकं तथा वृश्चिककुट्टितम् ॥ १०
अथाक्षिप्तं चार्गलं च तथा वृश्चिकरेचितम् ।
उरोमण्डलमावर्तं तथा तलविलासितम् ॥ ११
ललाटतिलकं दोलपादकं कुञ्चितं तथा ।
विवृत्तं विनिवृत्तं च पार्श्वक्रान्तं निशुम्भितम् ॥ १२
विद्युद्भ्रान्तमतिक्रान्तं विक्षिप्तं च विवर्तितम् ।
गजक्रीडितकं[1] गण्डसूचि स्याद्गरुडप्लुतम् ॥ १३
तलसंस्फोटितं पार्श्वजानु गृध्रावलीनकम् ।
सूचीविद्धं सूचि चार्धसूची स्याद्धरिणप्लुतम् ॥ १४
परिवृत्तं दण्डपादं मयूरललितं ततः[2] ।
प्रेङ्खोलितं सन्नतं च सर्पितं [3]करिहस्तकम् ॥ १५
प्रसर्पितमपक्रान्तं नितम्बं स्खलितं ततः ।
सिंहविक्रीडितं सिंहाकर्षितं चावहित्थकम् ॥ १६
निवेशमेलकाक्रीडमुद्वृत्तं जनितं तथा ।
तलसंघट्टितं विष्णुक्रान्तं चोपसृतं तथा ॥ १७
लोलितं मदस्खलितं वृषभक्रीडितं ततः ।
संभ्रान्तमुद्घाटितं च विष्कुम्भं[4] शकटास्यकम् ॥ १८
ऊरूवृत्ताभिधं चैव नागापसर्पितं तथा ।
गङ्गावतरणं चेत्थमष्टोत्तरमुदीरितम् ॥ १९
करणानां शतं पूर्णमङ्गहारोपयोगिकम् ।
अन्यानि सन्ति भूयांसि गतिस्थित्यादियोगतः ॥ २०
अङ्गानां मेलके तानि स्वयमूह्यानि पण्डितैः ।
प्रायेण व(?न)र्तनारम्भे समौ पादौ लताकरौ ॥ २१
चातुरस्र्यं शरीरे च विशे[षो]ऽथो यथास्थितः ।
*
चारीमध्यर्धिकामेते दक्षिणे चरणेऽग्रगे ॥ २२

---

1 AB °क्रीडनकम् । 2 C तथा । 3 AB करह° । 4 A. Nāṭyaśāstra and other works such as S. R. give Viṣkambha; but Monier Williams on the authority of Vopadeva gives विष्कुम्भ. also.

व्यावृत्त्य दक्षिणं पार्श्वमागते करयोर्युगे ।
परिवर्तनतो वामं पार्श्वं सन्नतमाश्रिते ॥ २३
कुचक्षेत्रं श्रितो यत्र हस्तः पुष्पपुटो भवेत् ।
तलपुष्पपुटं तत् स्यात् पादेऽग्रतलसञ्चरे ॥ २४
रङ्गे पुष्पाञ्जलिक्षेपे लज्जिते योषितामपि ।
यदान्यकरणादेतदनु स्यात् करणं तदा ।
एतत् कराक्रियां त्यक्त्वा ग्राह्या तत् करणानुगा ॥ २५

॥ इति तलपुष्पपुटम् ॥ १ ॥

*

ग्रीवानतांसकूटं च भवेद्यत्र निहञ्चितम् ।
ऊर्ध्वमण्डलिनौ हस्तौ विधाय हृदयेऽञ्जलिः ।
यत्र तत्करणं लीनं वल्लभाभ्यर्थने स्मृतम् ॥ २६

॥ इति लीनम् ॥ २ ॥

*

हृदयाभिमुखौ हस्तावाश्लिष्टमणिबन्धकौ ।
समं स्वस्तिकतां नीतौ व्यावृत्तपरिवर्तितौ ॥ २७
उत्तानौ पातयेदूर्वौर्यत्र तद्वर्तितं मतम् ।
पताकौ पातयेत्तौ हि यत्रासूया प्रयुज्यते ॥ २८
क्रोधेऽधोवदनौ स्यातां निघृष्टौ तौ तथाविधौ ।
विनियोगवशादन्ये शुकतुण्डादिका इह ॥ २९

॥ इति वर्तितम् ॥ ३ ॥

*

व्यावृत्तिपरिवृत्तिभ्यां समं वक्षसि चेत् करौ ।
कृत्वाक्षिप्तिकया चार्यां परिवर्त्य च संहतौ ॥ ३०
[1]वक्षो नीत्वा निधीयेते शुकतुण्डावधोमुखौ ।
एवं कृत्वा ततश्चारीं बद्धां कृत्वा स्थितिर्यदा ।
क्रियते वलितो स स्यान्मुग्धस्त्रीव्रीडिते स्मृतम् ॥ ३१

॥ इति वलितोरु ॥ ४ ॥

*

मण्डलं स्थानकं कृत्वा चतुरस्रौ करौ ततः ।
विदध्याद्विच्यवां चारीमूर्ध्वमण्डलितौ करौ ॥ ३२
उद्वेष्टितेन कृत्वा तौ विदध्यात् स्वस्तिकाकृती ।
मण्डलस्वस्तिकं तत् स्यात् प्रसिद्धार्थावलोकने ॥ ३३

॥ इति मण्डलस्वस्तिकम् ॥ ५ ॥

*

---

1 ABO वक्षौ ।

वक्षःस्थितौ करौ कृत्वा रेचितौ चतुरास्रितौ ।
आसुग्रे वक्षसि पुनर्यत्र व्यावर्तितेन तौ ॥ ३४
आनीय स्वस्तिकीभूतौ स्वस्तिकौ चरणौ तथा ॥ ३५
अंसयुग्मसनासुग्रं तद्वक्षःस्वस्तिकं मतम् ।
लज्जानुतापयोस्तज्ज्ञैर्विनियोगोऽस्य कीर्तितः ॥ ३६

॥ इति वक्षःस्वस्तिकम् ॥ ६ ॥

*

उद्वेष्टितेन निष्क्रम्य पाणी व्यावर्तिताश्रितौ ।
समम्रुत्प्लुत्य कुरुते कराङ्घ्रिस्वस्तिकं यदा ॥ ३७
तदा स्वस्तिकमाख्यातं परान्वेषणभाषणे ।
तथा निषेधराभस्ये क्वचिद्युद्धपरिक्रमे ॥ ३८

॥ इति स्वस्तिकम् ॥ ७ ॥

*

वक्षःक्षेत्रे करौ कृत्वा व्यावर्तनमधोर्ध्वगौ ।
पार्श्वयोश्च ततः क्षिप्त्वा द्रुतभ्रममधोमुखम् ॥ ३९
हंसपक्षं करं चान्यं वक्ष आनीय तादृशम् ।
निष्कामयेत्ततः सूचीपादौ यत्र प्रयोजितौ ॥ ४०
आक्षिप्तरेचितं तत् स्यादनेनाभिनयेत् सुधीः ।
परिग्रहस्याचरितं तथा त्यागपरम्परा ॥ ४१

॥ इत्याक्षिप्तरेचितम् ॥ ८ ॥

*

उद्वेष्टनक्रियां कृत्वा विक्षिप्येते करौ यदा ।
चारीं विधायापक्रान्तां रच्यमानेऽपवेष्टने ॥ ४२
कृत्वान्यचरणं सूचीं यत्राङ्घ्रिकरसंभवम् ।
स्वस्तिकं रचयेत् तत् स्यात् पृष्ठस्वस्तिकसंज्ञकम् ।
विनियोगे स्वस्तिकोक्ते नियोज्यं नृत्यकोविदैः ॥ ४३

॥ इति पृष्ठस्वस्तिकम् ॥ ९ ॥

*

करिहस्तो दक्षिणः स्यादितरः खटकामुखः ।
पादौ हृत्स्वस्तिकौ यत्र तदर्धस्वस्तिकं भवेत् ॥ ४४
केचित् करिकरस्थाने पक्षवञ्चितकं जगुः ।
कटिस्थमर्धचन्द्रं च पक्षप्रद्योतकं न वा ॥ ४५

॥ इत्यर्धस्वस्तिकम् ॥ १० ॥

*

कराङ्घ्रिरचितो यत्र स्वस्तिको त्रुटिताङ्गकः ।
अग्रतः पृष्ठतः पार्श्वे तद् दिक्स्वस्तिकमुच्यते ॥ ४६
स्याद्गीतपरिवर्त्तेऽस्य विनियोगः प्रकीर्तितः ।
स्वस्तिकोक्त्यन्तरेषु स्यात् स्वस्ति[क]प्रक्रिया त्वियम् ॥ ४७

॥ इति दिक्स्वस्तिकम् ॥ ११ ॥

*

आविद्धां रचयन् चारीं पादमञ्चितमाचरेत् ।
करौ क्रमाद्रचितौ स्तो यत्रोन्मत्तं तु तद्भवेत् ।
सौभाग्यादिसमुद्भूते गर्वे विद्धद्भिरीरितम् ॥ ४८

॥ इत्युन्मत्तम् ॥ १२ ॥

*

लताहस्तौ समनखौ चरणौ संयुतौ मिथः ।
देहः स्वाभाविकः प्राक् प्रवेशे समनखं तु तत् ॥ ४९

॥ इति समनखम् ॥ १३ ॥

*

चतुरस्रं समास्थाय हस्तौ तु चतुरस्रितौ ।
व्यावर्त्य दक्षिणं हस्तं मुहुर्निष्क्राशयन् भजेत् ॥ ५०
आक्षिप्तमथ तं हस्तं शुकतुण्डाकृतिं नयन् ।
पातयेद्दक्षिणस्योरोरुपर्यत्रापरः करः ॥ ५१
वामे दक्षस्थितो यत्र खटकामुखसंज्ञकः ।
अपविद्धं तदेव स्यात् कोपासूयार्थदर्शने ॥ ५२

॥ इत्यपविद्धम् ॥ १४ ॥

*

नासादेशं गतो यत्र व्यावर्तपरिवर्तनम् ।
कृत्वा धत्तेऽलपद्मत्वं करिहस्तस्तदाञ्चितम् ।
स्वस्यातिकौतुकाद्योज्यं सम्मुखप्रेक्षणे हि तत् ॥ ५३

॥ इत्यञ्चितम् ॥ १५ ॥

*

विधाय चतुरस्रः सन् हंसपक्षौ द्रुतभ्रमौ ।
शीर्षादूर्ध्वमधो नीत्वा व्यावर्तपरिवर्तितैः ॥ ५४
आविद्धवक्त्रौ तावेव वक्षसि स्वस्तिकीकृतौ ।
कट्यां नीत्वा ततः पक्षप्रद्योतकविधानतः ॥ ५५
चारीं तद्वशगां कृत्वा बहित्थं स्थानकं ततः ।

कुर्यात्तदा प्रविज्ञेयं बुधैः स्वस्तिकरेचितम् ।
नृत्ताभिनयने तच्च प्रहर्षादौ नियोजितम् ॥ ५६

॥ इति स्वस्तिकरेचितम् ॥ १६ ॥

*

मण्डलं स्थानकं कृत्वा चतुरस्रं समाश्रितः ।
स्कन्धशीर्षे करं नीत्वा दक्षमुद्वेष्टनाश्रितम् ॥ ५७
पतन्तोत्पतनाविष्टकनिष्ठाद्यङ्गुलित्रयम् ।
अलपद्मीकृत्य तथोद्घट्टितेऽङ्घ्रौ च दक्षिणे ॥ ५८
आविद्धवक्रतां नीते चतुरस्रीकृते ततः ।
अनेनैव यथा वामपार्ष्ण्यङ्घ्री यत्र तद्विदा ॥ ५९
क्रियते तत्र विज्ञेयं करणं तु निकुट्टितम् ।
आत्मसंभावनाख्यानपरे वाक्ये प्रकीर्तितम् ॥ ६०

॥ इति निकुट्टम् ॥ १७ ॥

*

तदेवार्धनिकुट्टं स्यादेकेनाङ्गेन निर्मितम् ।
तत्रैवार्था(? र्थे) नियुज्येताप(? प्र)रूढवसनोक्तिके ॥ ६१

॥ इत्यर्धनिकुट्टम् ॥ १८ ॥

*

विधाय भ्रमरीं पार्श्वे मण्डलस्थानमाश्रितः ।
छिन्नां कटीं विधायैकां बाहुशीर्षे च पल्लवम् ॥ ६२
करं कृत्वाङ्गान्तरेण यत्रैवं क्रियते पुनः ।
एवं त्रिचतुरावृत्त्या कटीछिन्नं तु विस्मये ॥ ६३

॥ इति कटीछिन्नम् ॥ १९ ॥

*

वैष्णवस्थानके स्थित्वा चारीमाक्षिप्तिकां चरन् ।
अपक्रान्तां ततः कृत्वा स्वस्तिकं च करद्वये ॥ ६४
दक्षिणो नाभिदेशस्थः खटकामुखसंज्ञकः ।
अर्धचन्द्रस्तथा कट्यां कृतं पार्श्वं च सन्नतम् ॥ ६५
अन्यदुद्वाहितं यत्रावृत्तयोगान्तरैस्तथा ।
तत् कटीसममादिष्टं जर्जरस्याभिमन्त्रणे ॥ ६६

॥ इति कटीसमम् ॥ २० ॥

*

व्यावर्त्यते करो यस्तु तत्पक्षेऽङ्घ्रिं बहिः क्षिपेत् ।
अन्यस्तु चतुरस्रः स्यात् पूर्वोऽथ परिवर्त्यते ॥ ६७

हस्त आक्षिप्यते चाङ्घ्रिरेवमेवाङ्गकं पुनः ।
अपरं क्रियते यत्र विक्षिप्ताक्षिप्तिकं तु तत् ॥ ६८
विनियोज्यं गतौ चैतदागतौ च विचक्षणैः ।
प्राधान्याच्चरणस्येदं न तथा मन्वते परे ॥ ६९
यतो वाक्यार्थधीर्हस्ताभिनयस्यानुसारिणी ।
प्राधान्यतो हस्तकानां नृत्यमात्रपरं त्विदम् ॥ ७०
अन्यदङ्गमतस्तालानुसंधाने चिकीर्षतः ।
अन्तरालानुसंधाने गतीनां च परिक्रमे ।
योज्यं करणमेतादृगिति तद्भेदिनां मतम् ॥ ७१

॥ इति विक्षिप्ताक्षिप्तिकम् ॥ २१ ॥

*

भुजङ्गत्रासितां चारीं विधायाक्षिप्य कुञ्चितम् ।
अङ्घ्रिं विधायोरुकटीजानु त्र्यस्रं विवर्तयेत् ॥ ७२
एकदोलाकरं कृत्वा तथान्यं खटकामुखम् ।
व्यावृत्तिपरिवृत्तिभ्यां भुजङ्गत्रासितं तु तत् ॥ ७३

॥ इति भुजङ्गत्रासितम् ॥ २२ ॥

*

नितम्बश्चतुरस्रो वा करोऽलाता च चारिका ।
दक्षिणाङ्गे तथा वामे तूर्ध्वजानुस्तथैव चेत् ।
अङ्गान्तरं तदालातं ललिते नृत्त ईरितम् ॥ ७४

॥ इत्यलातम्[1] ॥ २३ ॥

*

वृश्चिकं चरणं कृत्वा तत्पक्षस्थं करं पुनः ।
अरालं शीर्ष आधाय वेगान्नासाप्रदेशतः ॥ ७५
कृतो वक्षस्यरालोऽन्यस्तद्विख्यातं निकुञ्चितम् ।
योज्यमुत्पतनौन्मुख्ये वितर्कादौ च सूरिभिः ।
एके पताकसूच्यास्यावपि नासाग्रगौ जगुः ॥ ७६

॥ इति निकुञ्चितम् ॥ २४ ॥

*

---

1 After अलातम् ॥ २३ ॥ ABC give the following description of विक्षिप्त which has its proper place after अतिक्रान्तम् ॥ ६५ ॥ The meaning of the verses is the same but readings differ: विद्युद्भ्रान्तां दण्डपादां क्रमाच्चार्यौ विधाय चेत् । उद्वेष्टितं तदा चापवेष्टितं करयोः क्रमात् ॥ एकमार्गयोः कृत्वा रेचयेदग्रपृष्ठयोः । पार्श्वयोर्विक्षेपे तौ हि विक्षिप्तं तु तदा भवेत् । अभिनेयस्तथैतेन वीरोद्धतपरिक्रमः ॥

पार्श्वक्षेत्राक्राम्यमाणे ऊर्ध्वं व्यावर्तनेन तु ।
परिवर्तनतोऽधश्च करे चरणयोः पुनः ॥ ७७
जङ्घास्वस्तिकतः पश्चादपक्रान्तां विहाय च ।
तद्दिक्स्थे चरणे वामः करो दोलाभिधो यदा ।
करणं घूर्णितं प्रोक्तं तदा नृत्यविशारदैः ॥ ७८

॥ इति घूर्णितम् ॥ २५ ॥

*

मण्डलं स्थानकं कृत्वा हृदिस्थं खटकामुखम् ।
सूचीमुखं चापसार्य यदा तस्यान्तिके नयेत् ॥ ७९
उद्धटितोऽङ्घ्रिपार्श्वे च सततं त्वपसारणे ।
तदोर्ध्वरेचितं प्रोक्तमसमञ्जसचेष्टने ॥ ८०

॥ इत्यूर्ध्वरेचितम् ॥ २६ ॥

*

चरणं कुञ्चितं कृत्वोर्ध्वजानुं चारिकां यदा ।
कृत्वा तद्दिग्भवं हस्तमलपद्मं विधाय वा ॥ ८१
अरालं चोर्ध्ववदनं पक्षे वञ्चितकं तथा ।
कृत्वा जानु स्तनक्षेत्रे नीत्वा हस्तस्तथापरः ।
खटकाख्यस्तदेवोर्ध्वजानुसंज्ञं प्रजायते ॥ ८२

॥ इत्यूर्ध्वजानु ॥ २७ ॥

*

रेचितो यत्र वामः स्यात् करः कट्यामथेतरः ।
पादावुपेतापसृतौ तदा करणमीरितम् ।
अर्धमत्तल्लिसंज्ञं च नियुक्तं तरुणे मदे ॥ ८३

॥ इत्यर्धमत्तल्लि ॥ २८ ॥

*

रेचितो दक्षिणो हस्तः पादः सव्यो निकुट्टितः ।
दोला चैव भवेद्वामस्तद्रेचकनिकुट्टितम् ॥ ८४

॥ इति रेचकनिकुट्टितम् ॥ २९ ॥

*

गुल्फौ च स्वस्तिकीकृत्य पादौ यत्रापसर्पयेत् ।
करयोर्युगपद्यत्रोद्वेष्टनं चापवेष्टनम् ।
एवं मुहुर्मुहुर्यत्र तन्मत्तल्लि मदे स्मृतम् ॥ ८५

॥ इति मत्तल्लि ॥ ३० ॥

*

नितम्बकेशहस्तादिवर्तना दक्षिणे परे ।
बद्धोऽन्यः करिहस्तः स्यात् पादश्चोद्घट्टितस्तथा ।
अङ्गान्तरं चेल्ललितं नृत्ये स्यातां विलासिनि ॥ ८६

॥ इति ललितम् ॥ ३१ ॥

*

सूचीमुखकरे देहक्षेत्राद्दूरेऽपसर्पति ।
सूचीपादेऽप्यपसृते चारी चेद्भ्रमरी भवेत् ।
क्रमादङ्गान्तरेऽप्येवं वलिते वलितं मतम् ॥ ८७

॥ इति वलितम् ॥ ३२ ॥

*

ऊर्ध्वजानुर्यदा चारी करौ चैव लताभिधौ ।
इच्छयैकं तयोर्न्यस्येदुपर्यूर्ध्वस्य जानुनः ।
अङ्गान्तरे पुनश्चैवं दण्डपक्षे प्रकीर्तितम् ॥ ८८

॥ इति दण्डपक्षम् ॥ ३३ ॥

*

चारीं च भ्रमरीं कृत्वा ततो नूपुरपाटिकाम् ।
एकेनैव तु पादेन रेचयेत्तद्गतं करम् ।
द्वितीयं चेल्लताहस्तं तदा नूपुरमादिशेत् ॥ ८९

॥ इति नूपुरम् ॥ ३४ ॥

*

खटकास्यौ नाभिदेशे हस्तौ स्यातां पराङ्मुखौ ।
सूचीपादोऽन्येन युक्त्वा चार्यापक्रान्तया युतः ।
तथैव स्यात् परः पादस्तदा पादापविद्धकम् ॥ ९०

॥ इति पादा[प]विद्धम् ॥ ३५ ॥

*

भुजङ्गत्रासितां चारीं कृत्वा हस्तौ च रेचयेत् ।
वामपार्श्वे तु तत् ख्यातं भुजङ्गत्रस्तरे[1]चितम् ॥ ९१

॥ इति भुजङ्गत्रस्तरेचितम् ॥ ३६ ॥

*

भुजङ्गत्रासिता चारी दक्षेऽङ्घ्रौ दक्षिणः करः ।
रेचितो[2]स्याल्लताहस्तो भुजङ्गाञ्चितकं भवेत् ॥ ९२

॥ इति भुजङ्गाञ्चितम् ॥ ३७ ॥

*

---

1 ABC रेचिरम् । 2 ABC स्योलता° ।

वैशाखं स्थानकं छिन्ना कटी यत्र क्रमात् करौ ।
अलपद्मौ कटीपार्श्वे तच्छिन्नं करणं भवेत् ॥ ९३
॥ इति छिन्नम् ॥ ३८ ॥

*

समयाक्षिप्तिका चारी करश्चोद्वेष्टितो भवेत् ।
वलितं च त्रिकं कृत्वा पादयोः स्वस्तिकं तथा ॥ ९४
कुर्यात्तद्वद् द्वितीयान्तं (?ङ्गं) करौ साकं तथोल्वणौ ।
करणं भ्रमरं नाम तद्भद्धत(? तच्चोद्धत) परिक्रमे ॥ ९५
॥ इति भ्रमरम् ॥ ३९ ॥

*

दण्डपक्षौ करौ कुर्याद्दण्डपादां विधाय च ।
चारीं प्रमोदनृत्ये स्यात् करणं दण्डरेचितम् ।
केचित् प्रयोगमप्याहुरस्योद्धतपरिक्रमे ॥ ९६
॥ इति दण्डरेचितम् ॥ ४० ॥

*

पाणी वक्षःस्थितौ तत्र वामश्चेदलपल्लवः ।
चतुरो दक्षिणोऽङ्घ्रिस्तूद्धट्टितश्चतुरं भवेत् ।
अनेनाभिनयेत् सूचीं विस्मये कञ्चुकिस्थिताम् ॥ ९७
॥ इति चतुरम् ॥ ४१ ॥

*

विधाय वामे सूचीं च द्रुतापसरणान्विताम् ।
तत्पार्श्वे दक्षिणं न्यस्य कटिरेचितमाचरेत् ॥ ९८
अथवा भ्रमरीं कुर्वन् व्यावृत्तपरिवर्तितौ ।
करौ कृत्वा चातुरस्यं नर्तको विदधाति चेत् ॥ ९९
कटिभ्रान्तं तदा ज्ञेयं यतीनां परिपूरणे ।
तालान्तरालगानां तु तथा गतिपरिक्रमे ।
नियोगः प्रोच्यते सद्भिः कटिभ्रान्तविधानगः ॥ १००
॥ इति कटिभ्रान्तम् ॥ ४२ ॥

*

उद्वेष्टितविधानेनाधो यात्येकः परस्परः ।
ऊर्ध्वं यायाद्विप्रकीर्णौ तादृगावृत्तिपेशलौ ॥ १०१
उत्तानरेचितश्चैको वक्षःक्षेत्रगतस्ततः ।
परोऽधोमुखगो यत्र रेचितः स्थानकं गतः (? ततः) ।
आलीढं व्यंसितं योज्यं महाकपिपरिक्रमे ॥ १०२
॥ इति व्यंसितम् ॥ ४३ ॥

*

अतिक्रान्तागतं पादं पात्यमानं तु कुञ्चयेत् ।
तदैव हस्तं व्यावर्त्य ततो निष्क्रामयेदथ ॥ १०३
आक्षिप्य परिवर्त्तेन कुर्यात्तं खटकामुखम् ।
वक्षःक्षेत्रे त्वेवमेव कुर्यादङ्गं द्वितीयकम् ।
इति क्रान्तमिदं ज्ञेयमुद्धतस्य परिक्रमे ॥ १०४

॥ इति क्रान्तम् ॥ ४४ ॥

*

वैशाखं स्थानकं हस्तौ पादौ ग्रीवा(?वां) कटीमपि ।
रेचयेद्यत्र तद् ज्ञेयं तज्ज्ञैर्वैशाखरेचितम् ॥ १०५

॥ इति वैशाखरेचितम् ॥ ४५ ॥

*

पाणी च स्वस्तिकीकृत्य तयोरेकस्तदूर्ध्वतः ।
मुखपार्श्वनिकुट्टः स्यादन्योऽधोवदनो भवेत् ॥ १०६
निकुट्टितस्तद्वदेव पादो यत्र भवेदिदम् ।
तत् प्रकाशनसञ्चाराभ्यासे पार्श्वनिकुट्टितम् ॥ १०७

॥ इति पार्श्वनिकुट्टितम् ॥ ४६ ॥

*

यत्राङ्घ्रितां विधायाथो दोलायां चक्रवद्भ्रमेत् ।
गात्रमन्तर्गते कृत्वा तत् प्रोक्तं चक्रमण्डलम् ।
सुरपूजाविधौ कार्यं तथोद्धतपरिक्रमे ॥ १०८

॥ इति चक्रमण्डलम् ॥ ४७ ॥

*

हस्तौ करिकरौ यत्र पृष्ठे वृश्चिकपुच्छवत् ।
पादः समुन्नतं पृष्ठं दूरे तद्वृश्चिकं विदुः ।
व्योमगैरावणादीनां विमाने विनियुज्यते ॥ १०९

॥ इति वृश्चिकम् ॥ ४८ ॥

*

वामो लताकरो यत्र चरणो यत्र वृश्चिकः ।
तल्लतावृश्चिकं नाम गगनोत्पतने स्मृतम् ॥ ११०

॥ इति लतावृश्चिकम् ॥ ४९ ॥

*

चरणं वृश्चिकं कृत्वा बाहुशीर्षेऽलपद्मकौ ।
क्रमाद्यदा निकुट्येते तदा वृश्चिककुट्टितम् ॥ १११

॥ इति वृश्चिककुट्टितम् ॥ ५० ॥

*

विधायाक्षिप्तिकां चारीं क्षिप्यते खटकामुखः ।
चतुरो वा तदाक्षिप्तं विदूषकपरिक्रमे ॥ ११२
॥ इत्याक्षिप्तम् ॥ ५१ ॥

*

वामस्याङ्घ्रेः कनिष्ठायाः समीपे स्यात् प्रसारितः ।
तदैव स्तब्धबाहुः सन् वामः स्यादलपल्लवः ॥ ११३
वामेतरः करः किञ्चित् प्रसृताग्रोऽर्गलं तथा ।
परिक्रमेऽङ्गदादीनां विनियोगोऽस्य कीर्तितः ॥ ११४
॥ इत्यर्गलम् ॥ ५२ ॥

*

चरणौ वृश्चिकौ यत्र स्वस्तिकौ रेचितौ करौ ।
विच्युतौ च तदाकाशयाने वृश्चिकरेचितम् ॥ ११५
॥ इति वृश्चिकरेचितम् ॥ ५३ ॥

*

बद्धामथ स्थितावर्तां चार्यौ कृत्वा करौ यदि ।
उरोमण्डलिनौ कुर्यात्तदुरोमण्डलं मतम् ॥ ११६
॥ इत्युरोमण्डलम् ॥ ५४ ॥

*

चारी चाषगतिर्यत्र दोलाख्यौ च यदा करौ ।
उद्वेष्टितौ ततश्चापवेष्टितौ च क्रमाद्यदा ।
तदावर्तं भवेदेतत् साध्वसादपसर्पणे ॥ ११७
॥ इत्यावर्तम् ॥ ५५ ॥

*

ऊर्ध्वाङ्गुलितलः पाद ऊर्ध्वपार्श्वे प्रसारितः ।
तदग्रपृष्ठतः कार्यमेवमङ्घ्रान्तरेऽपि चेत् ।
सूत्रधारगतावेतदुक्तं तलविलासितम् ॥ ११८
॥ इति तलविलासितम् ॥ ५६ ॥

*

वृश्चिकाङ्घ्रेर्यदाङ्गुष्ठो ललाटे तिलकं लिखेत् ।
तदा ललाटतिलकं विद्याधरगतौ स्मृतम् ॥ ११९
॥ इति ललाटतिलकम् ॥ ५७ ॥

*

ऊर्ध्वजानुं विधायाथ दोलापादां यदाचरेत् ।
दोलापादौ करौ यत्र दोलापादं [1]तदेरितम् ॥ १२०
॥ इति दोलापादम् ॥ ५८ ॥

*

1 BC यदेरितम् ।

वामपार्श्वेऽलपद्मः स्यादुत्तानो दक्षिणः करः ।
यदा तत् कुञ्चितं पादे सव्येऽग्रतलसंचरे ।
आनन्दनिर्भरसुरानन्दाभिनयने मतम् ॥ १२१

॥ इति कुञ्चितम् ॥ ५९ ॥

*

पादमाक्षिप्तचारीकमाक्षिप्याक्षिप्य हस्तकौ ।
व्यावृत्तिपरिवृत्तिभ्यां ततो भ्रमरिकाविधौ ।
रेचितौ चेत् करौ स्यातां विवृत्तमुद्धते गमे ॥ १२२

॥ इति विवृत्तम् ॥ ६० ॥

*

पार्ष्णिस्वस्तिकयुक्त्याऽदः सूचीपादेन जायते ।
निवर्तते विवृत्याथ प्रत्यावृत्याथ पार्श्वतः ॥ १२३
त्रिकं स्याद्विनतं चारी बद्धा पाणी द्रुतभ्रमौ ।
यत्र तद्विनिवृत्तं स्यात्तदुद्धतपरिक्रमे ॥ १२४

॥ इति विनिवृत्तम् ॥ ६१ ॥

*

पार्श्वाक्रान्ताह्वचार्या वै कुर्यात् पादानुगौ करौ ।
पार्श्वक्रान्तं तदा यद्वाभिनेयवशगौ करौ ।
परिक्रमेऽतिरौद्रस्य भीमसेनादिकस्य तत् ॥ १२५

॥ इति पार्श्वक्रान्तम् ॥ ६२ ॥

*

एकस्याङ्घ्रेः पार्ष्णिभागे समुन्नततरः परम् ।
कुञ्चितश्चेद् द्वितीयः स्यात् खटकाख्यस्य मध्यमा ॥ १२६
वक्राङ्गुली तिलकयेल्ललाटं तन्निशुम्भितम् ।
अथवा हस्तकोऽत्र स्याद्वृश्चिकोऽत्र महेश्वरः ।
अभिनेय इति प्राहुर्नृत्यशास्त्रविशारदाः ॥ १२७

॥ इति निशुम्भितम् ॥ ६३ ॥

*

चतुर्दिक्कं शिरःक्षेत्रे पृष्ठतो भ्रामितं द्रुतम् ।
भ्रामयेच्चरणं चेत् स्यात् विद्युद्भ्रान्तं तदाद्भुतम् ।
एतदप्यौद्धते प्रोक्तं नृत्यविद्भिः परिक्रमे ॥ १२८

॥ इति विद्युद्भ्रान्तम् ॥ ६४ ॥

*

अतिक्रान्ताख्यचारीकमङ्घ्रिमग्रे प्रसारयेत् ।
चेत् प्रयोगानुगौ हस्तावतिक्रान्तं तदोच्यते ॥ १२९

॥ इत्यतिक्रान्तम् ॥ ६५ ॥

*

---

1 ABC इत्यभिक्रान्तम् ।

विद्युद्भ्रान्तां दण्डपादां चारीं कृत्वा क्रमादिह ।
उद्वेष्टितौ तथा चापवेष्टितौ रेचयेत् करौ ॥ १३०
एकमार्गगतावग्रे पृष्ठतः पादयोः क्षिपेत् ।
विक्षिप्तमभिनेयः स्यात्तेनोद्धृतपरिक्रमः ॥ १३१

॥ इति विक्षिप्तम् ॥ ६६ ॥

*

आक्षिप्य हस्तचरणं त्रिकं यत्र विवर्तयेत् ।
करं च रेचयेदन्यं तद्वदन्ति विवर्तितम् ॥ १३२

॥ इति विवर्तितम् ॥ ६७ ॥

*

दोलापादाख्यचार्यां चेत् कर्णे स्यात् करिहस्तकः ।
क्रियापरः करो यत्र गजक्रीडनकं तदा ॥ १३३

॥ इति गजक्रीडनकम् ॥ ६८ ॥

*

वक्षःस्थः कटकः पादः सूचीपार्श्वे ततं यदा ।
गण्डक्षेत्रे यदा वामो हस्तः स्यादलपल्लवः ॥ १३४
सूचीपादोऽथ वा सूचीमुखो वा नृत्यहस्तकः ।
गण्डसूची तदा प्रोक्त[ा] कपोलालङ्कृतौ भवेत् ॥ १३५

॥ इति गण्डसूची ॥ ६९ ॥

*

वृश्चिकोऽङ्घ्रिर्यदा हस्तौ लतारेचितकावुरः ।
समुन्नतं तदान्वर्थं करणं गरुडप्लुतम् ॥ १३६

॥ इति गरुडप्लुतम् ॥ ७० ॥

*

चार्यातिक्रान्तया यद्वा दण्डपादाख्यया द्रुतम् ।
उत्क्षिप्य पात्यमानेऽङ्घ्रौ सशब्दं तालिकां करौ ।
कुरुतो यत्र तत् प्रोक्तं तलसंस्फोटितं बुधैः ॥ १३७

॥ इति तलसंस्फोटितम् ॥ ७१ ॥

*

समस्याङ्घ्रेरुरुपृष्ठे निहितः चरणः परः ।
वक्षःस्थलो मुष्टिहस्तः स्यादर्धचन्द्रः कटीतटे ।
करणं पार्श्वजानुः स्यात् प्रोक्तं युद्धनियुद्धयोः ॥ १३८

॥ इति पार्श्वजानुः ॥ ७२ ॥

*

भूमिश्लिष्टलताहस्ताङ्गुष्ठावङ्घ्रिस्तु पृष्ठतः ।
प्रसृतश्चेन्महापक्षिवुद्धौ (? युद्धे) गृध्रावलीनकम् ॥ १३९
॥ इति गृध्रावलीनकम् ॥ ७३ ॥

*

कट्यां यदार्धचन्द्रः स्यात् पक्षवञ्चितकोऽथवा ।
वक्षःस्थः खटकाहस्त परपार्ष्णिस्थितोऽपरः ।
सूचीपादस्तदा सूचीविद्धं सूच्यादिषु स्मृतम् ॥ १४०
॥ इति सूचीविद्धम् ॥ ७४ ॥

*

कुञ्चितं पादमुत्क्षिप्य स्थापयेद्भूमिमस्पृशन् ।
तद्दिक्कः खटको हस्तो वक्षसि स्यात्तथा परः ॥ १४१
शिरःक्षेत्रेऽलपद्मश्च तथैवाङ्गान्तरं क्रमात् ।
करणं सूचिसंज्ञं तद्वदितं विस्मये विदा ॥ १४२
॥ इति सूचि ॥ ७५ ॥

*

तदैवांकांग(? वैकाङ्ग)रचितमर्धसूचीति सूचितम् ॥ १४३
॥ इत्यर्धसूची ॥ ७६ ॥

*

करौ खटकदोलाख्यौ चारी च हरिणप्लुता ।
हरिणप्लुतमेतत् स्याद्धरिणस्य प्लुते गते ॥ १४४
॥ इति हरिणप्लुतम् ॥ ७७ ॥

*

बद्धा चारी तथा हस्तादूर्ध्वमण्डलसंज्ञितौ ।
अङ्घ्रिः सूची विवृत्तं च त्रिकं भ्रमरिकाश्रितम् ।
करणं परिवृत्तं तत् कीर्तितं नृत्यपण्डितैः ॥ १४५
॥ इति परिवृत्तम् ॥ ७८ ॥

*

दण्डपादां द्रुतं चारीं कृत्वा नूपुरपादिकाम् ।
दण्डवद्यत्र हस्तः स्याद्दण्डपादं तदुच्यते ॥ १४६
॥ इति दण्डपादम् ॥ ७९ ॥

*

रेचयित्वा करावूर्वोर्वृश्चिकाङ्घ्रिं निकुञ्च्य च ।
भ्रमरीं क्रियते चेत्स्यात्मयूरललितं तदा ॥ १४७
॥ इति मयूरललितम् ॥ ८० ॥

*

दोलापादां विधायान्येनाङ्घ्रिणा चेत् करोत्ययम् ।
उत्प्लुत्य भ्रमरीं तूर्णं भवेत् प्रेङ्खोलितं तदा ॥ १४८

॥ इति प्रेङ्खोलितम् ॥ ८१ ॥

*

मृगप्लुतां विधायाङ्घ्रिः स्वस्तिकोऽग्रे विरच्यते ।
हस्तौ स्तो[1] दोलौ संनतं तदधमस्य गतौ मतम् ॥ १४९

॥ इति सन्नतम् ॥ ८२ ॥

*

एकतश्चरणाबद्धीव(? द्धाव)श्चितेऽपसरत्यथ ।
शिरः स्यान्नामितं तस्य पार्श्वे स्यादुचितं (? तः) करः ॥ १५०
एवमङ्गान्तरं यत्र तत्सर्पितमुदाहृतम् ।
नियोज्यमेतन्मत्तस्योन्मत्तस्य परिसर्पणे ॥ १५१

॥ इति सर्पितम् ॥ ८३ ॥

*

वक्षस्युद्वेष्टितो वामः करः स्यात् खटकामुखः ।
त्रिपातकः करः कर्णे पादश्चेदञ्चितः कृतः ।
अग्रे प्रसार्यते यत्र करिहस्तमिदं विदुः ॥ १५२

॥ इति करिहस्तम् ॥ ८४ ॥

*

रेचिताद्धस्ततो पादस्तादिको हस्तघर्षणात् ।
गच्छेत् पादान्तरान्मन्दमन्दमन्यो लताकरः ।
तदा प्रसर्पितं ज्ञेयं व्योमयानगतौ मतम् ॥ १५३

॥ इति प्रसर्पितम् ॥ ८५ ॥

*

कृत्वा बद्धामपक्रान्तां चारीं च करयोः पुनः ।
तत्तत् प्रयोगानुगयोरपक्रान्तं प्रकीर्तितम् ॥ १५४

॥ इत्यपक्रान्तम् ॥ ८६ ॥

*

पताकौ चेदधोवक्त्राङ्गुलीकौ शिरसः स्थलम् ।
परिवृत्त्या समानीय निष्क्राम्योर्ध्वांसयोर्द्वयोः ॥ १५५
अन्योऽन्याभिमुखौ कृत्वा स्वदेहाभिमुखाङ्गुली ।
नितम्बाख्यौ[2] विधीयेते नितम्बं तु तदा मतम् ॥ १५६

॥ इति नितम्बम् ॥ ८७ ॥

*

---

1 ABC स्तौ । 2 ABC °ख्यौर्विधीयते ।

दोलापादस्य गमनागमने हंसपक्षकः ।
अन्वेत्यङ्गान्तरं यत्र स्खलितं तत् प्रकीर्तितम् ॥ १५७

॥ इति स्खलितम् ॥ ८८ ॥

*

अलातां चारिकां कृत्वा न्यस्येदङ्घ्रिं द्रुतं पुरः ।
चपेटवत् कृतो हस्तस्तथान्याङ्गविधानतः ।
सिंहविक्रीडितं नाम भवेद्रौद्रगताविदम् ॥ १५८

॥ इति सिंहविक्रीडितम् ॥ ८९ ॥

*

पद्मकोशौ[वोर्णनाभौ][1] करावङ्घ्रिस्तु वृश्चिकः ।
प्राञ्चौ भङ्क्त्वापरे पादे [1]वृश्चिके तादृशौ पुनः ।
कृतौ सिंहाकर्षितकं सिंहाभिनयने मतम् ॥ १५९

॥ इति सिंहाकर्षितम् ॥ ९० ॥

*

जनितं चरणं कृत्वा त्वरालं चालपल्लवम् ।
ललाटे हृत्प्रदेशे च हस्तावभिमुखाङ्गुली ॥ १६०
क्रमादुद्वेष्टितेन स्तो व्यावृत्त्या पार्श्वगौ ततः ।
परिवृत्त्यापवेष्टेन वक्षोदेशे च तादृशौ ॥ १६१
मिथोऽभिमुखतां प्राप्तौ निधीयेते यदा तदा ।
अवहित्थं बुधैः प्रोक्तं विनियोगोऽस्य कथ्यते ।
गोपनप्रायवाक्यार्थे केचिदन्ये प्रचक्षते ॥ १६२

॥ इत्यवहित्थम् ॥ ९१ ॥

*

मण्डलस्थानके स्थित्वा निर्भुग्ने हृदये यदा ।
विन्यस्तौ खटकावक्त्रौ निवेशं[2] गजवाहने ॥ १६३

॥ इति निवेशम् ॥ ९२ ॥

*

एलकाक्रीडितौ पादौ हस्तौ खटकदोलकौ ।
वलितं सन्नतं गात्रमेलकाक्रीडितं तदा ।
अभिनेतव्यमेतेनाधमप्राणिप्रसर्पितम् ॥ १६४

॥ इत्येलकाक्रीडितम् ॥ ९३ ॥

*

---

1 cf वृश्चिकोऽङ्घ्रिः पद्मकोशौ वोर्णनाभौ यदा करौ । सं. र. अ. श्लो. ७१८.
2 ABC निशेवं ।

प्रसार्य पुनरानीतौ हस्तौ पादौ यदा पुनः ।
गात्रमुद्वृत्तचारीकमुद्वृतं तत् प्रकीर्तितम् ॥ १६५

॥ इत्युद्वृत्तम् ॥ ९४ ॥

*

चारीं च जनितां कृत्वा करं कुर्याल्लताभिधम् ।
अन्यं वक्षःस्थितं मुष्टिकरणं जनितं तदा ।
क्रियारम्भोऽभिनेतव्य एतेन महतां नृणाम् ॥ १६६

॥ इति जनितम् ॥ ९५ ॥

*

करौ संघट्टिततलौ रचयित्वा पताककौ ।
दोलापादां भजेच्चारीं वैष्णवस्थानके स्थितः ॥ १६७
दक्षिणं कटिदेशस्थं वामं रेचितमाचरेत् ।
तलसंघट्टितं तत् स्यादनुकरूपार्थगोचरम् ॥ १६८

॥ इति तलसंघट्टितम् ॥ ९६ ॥

*

आकाशाभिमुखो यत्र कुञ्चितश्चरणो व्रजेत् ।
रेचितौ च करौ विष्णुक्रान्तं स्यात् क्रमणे हरेः ॥ १६९

॥ इति विष्णुक्रान्तम् ॥ ९७ ॥

*

विधाय चारीमाक्षिप्तां वामतस्तदनन्तरम् ।
हस्तं विधाय व्यावृत्तं परिवर्तनकारकम् ॥ १७०
अरालतां नयेदेनं नते दक्षिणपार्श्वके ।
एतच्चापसृतं ज्ञेयं विनयेनो(? ना)पसर्पणे ॥ १७१

॥ इत्यपसृतम् ॥ ९८ ॥

*

वैष्णवे स्थानके पाणिरेको वक्षसि रेचितः ।
अन्योऽलपल्लवः शीर्षं लोलितं पार्श्वयोर्द्वयोः ।
विश्राम्यति यदा प्राहुर्लोलितं करणं तदा ॥ १७२

॥ इति लोलितम् ॥ ९९ ॥

*

क्रमेण स्वस्तिकौ पादौ तथैवापसृतौ शिरः ।
परिवाहितमानीतौ दोलौ हस्तौ यदा तदा ।
मदस्खलितकं प्राहुः प्रयोज्यं मध्यमे प(?म)दे ॥ १७३

॥ इति मदस्खलितम् ॥ १०० ॥

*

हस्तरेचितकं कुर्वन् कुर्याच्चारीमलातिकाम् ।
कुञ्चितौ च करौ कृत्वा व्यावर्तनविधानतः ॥ १७४
कृत्वालपद्मौ न्यस्येते करौ चेद्बाहुशीर्षयोः ।
वृषभक्रीडितं प्राहुस्तदा करणमुत्तमम् ॥ १७५

॥ इति वृषभक्रीडितम् ॥ १०१ ॥

*

चार्यामाविद्धसंज्ञायां व्यावृत्तपरिवर्तितम्[1] ।
अलपद्मं करं न्यस्येदूरूपृष्ठे यदा तदा ।
ससंभ्रमगतौ योज्यं सम्भ्रान्तं करणं भवेत् ॥ १७६

॥ इति संभ्रान्तम्[2] ॥ १०२ ॥

*

चारीं संघट्टितां कृत्वा पार्श्वं तत्संनतिं नयेत् ।
करौ समुद्यतौ कर्तुं तालिकां च यदा तदा ।
उद्घट्टितं प्रयोक्तव्यं नृत्ये तज्ज्ञैः प्रमोदकैः ॥ १७७

॥ इत्युद्घट्टितम् ॥ १०३ ॥

*

सूचीमुखो नृत्यहस्तो दक्षिणश्चेदपेत्य च ।
उपव्रजेत् करं वामं सोऽङ्घ्रिर्वामो निकुट्टकः ॥ १७८
एवमङ्गान्तरेऽपि स्यात् सूच्यङ्घ्रिर्दक्षिणः करः ।
दक्षिणोऽप्यलपद्मः स्यात् वामहस्तोऽपि पूर्ववत् ।
एवं पुनः पुनर्यत्र विष्कुम्भं तत् प्रकीर्तितम् ॥ १७९

॥ इति विष्कुम्भम् ॥ १०४ ॥

*

चारी तु शकटास्या स्यादेको हस्तः प्रसारितः ।
अङ्घ्रिणा सह हस्तोऽन्यो वक्षःस्थः खटकामुखः ।
यत्रैतत् शकटास्यं स्यात् प्रयोज्यं बालखेलने[3] ॥ १८०

॥ इति शकटास्यम् ॥ १०५ ॥

*

अरालखटकौ हस्तौ यत्र व्यावर्तनान्वितौ ।
सहोरूद्वृत्तया चार्या निदध्यादूरुपृष्ठयोः ।
ऊरूद्वृत्तं प्रेमकोपप्रार्थनेर्ष्यासु कीर्तितम् ॥ १८१

॥ इति ऊरुद्वृत्तम् ॥ १०६ ॥

*

---

1 ABC परिवृत्तितम् । 2 ABC repeat ससंभ्रमगतौ योज्यं from the Sambhrānta karaṇa. 3 ABC खेदने ।

हस्तौ रेचयेच्छीर्षं परिवाहितमाचरेत् ।
स्वस्तिकापसृतौ[1] कुर्यात् पादौ नागापसर्पिते ।
प्रयोज्यमेतदिच्छन्ति प्रायेण तरुणे मदे ॥ १८२

॥ इति नागापसर्पितम् ॥ १०७ ॥

*

अङ्घ्रावुत्क्षिप्यमाणेऽपि तथा निक्षिप्यमाणके ।
त्रिपताकौ भजेतां चेदनु प्रोन्नतिसंनताम् ॥ १८३
तद्वदेव शिरश्चेत् स्याद्गङ्गावतरणं तदा ।
गङ्गावतारे निर्दिष्टं मुनिना सर्वदर्शिना ॥ १८४

॥ इति गङ्गावतरणम् ॥ १०८ ॥

*

प्रायो वक्षःस्थितः कार्यो वा [2]मस्तु करणे करः ।
दक्षिणस्तु करस्तत्तत्करणस्यानुगः स्मृतः ॥ १८५
तलपुष्पपुटस्यादौ प्रयोगाद् ज्ञायते किल ।
पुष्पैः स्याद्देवतापूजामङ्गलार्थतयेति च ॥ १८६
गङ्गावतरणस्यान्ते कीर्तनान्मङ्गलान्तता ।
सर्वकार्येषु विज्ञेयेत्यवदद्भरतो मुनिः ॥ १८७

॥ इत्यष्टोत्तरशतं करणानि ॥ १०९ ॥

*

श्रीमत् कुम्भलमेरावर्बुदशिखरे च चित्रकूटे च ।
दुर्गवरौ वरपदवी यत्करणं राजते जगति ॥ १८८

इति श्रीराजाधिराजश्रीकुम्भकर्णमहीमहेन्द्रेण विरचिते सङ्गीतराजे षोडशसाहस्त्र्यां सङ्गीतमीमांसायां नृत्यरत्नकोशे करणोल्लासे शुद्धकरणाभिधानं प्रथमं परीक्षणं [समाप्तम् ।]

तृतीयोल्लासे द्वितीयं परीक्षणम् ।

[मङ्गलम् ।]

यमन्तःकरणेष्वाद्या नित्यामारोप्य तन्वतः ।
विचिन्तयन्ति तं वन्दे करणातीतमीश्वरम् ॥ १

*

अथ देशीपूर्वकाणि बृहद्देशीविदांवरः ।
करणानि समाचष्टे कुम्भकर्णो धराधिपः ॥ २
अश्वितं चैकक(?च)रणाश्वितं स्याद्भैरवाश्वितम् ।
दण्डप्रणामाश्वितं च कर्तर्यश्वितमेव च ॥ ३

---

1 AC °स्तिकोप° । 2 ABC याम° ।

तिर्यगञ्चितकं तद्वत् समपादाञ्चितं तथा ।
भ्रान्तपादाञ्चितं च[1] करणं स्यात्ततः परम् ॥ ४
अलगं कूर्मालगं चोर्ध्वालगं चान्तरालगम् ।
लोहडीं च तथा चान्यैकपादलोहडी तथा ॥ ५
कर्तरी लोहडी चैव स्याद्दर्पसरणं तथा ।
जलादिशयनं नागबन्धं कपालचूर्णनम् ॥ ६
नतपृष्ठं तथा मत्स्यकरणं च प्रकीर्तितम् ।
करस्पर्शनसंज्ञं च तथैवैणप्लुतं मतम् ॥ ७
तिर्यक्करणसंज्ञं च तिर्यक्स्वस्तिकमेव च ।
स्कन्धभ्रान्तं खण्डसूचि समसूचि ततः परम् ॥ ८
ततो विषमसूचीति बाह्यभ्रमरिका ततः ।
अन्तर्भ्रमरिका चैव छत्रभ्रमरिका तथा ॥ ९
तिरिपभ्रमरी चाथ लगभ्रमरिकेति च ।
चक्रभ्रमरिका नामोचितभ्रमरिका तथा ॥ १०
शिरोभ्रमरिका चैव तथा दिग्भ्रमरीति च ।
एवमुत्प्लुतिपूर्वाणि षट्त्रिंशत्संमितानि च ।
करणानि समासेन लक्षिष्यन्ते यथागमम् ॥ ११

*

स्थित्वा वै समपादेनोत्तानश्चेदुत्प्लुतेन्नटः ।
तदाञ्चितं स्यात् करणम् ।

॥ इत्यञ्चितम् ॥ १ ॥

*

एकपादाञ्चितं तथा ॥ १२
यद्येतदेकपादेन निर्मितम् ।

॥ इत्येकक(?च)रणाञ्चितम् ॥ २ ॥

भैरवाञ्चितम् ॥

*

भैरवाञ्चितमूरुपृष्ठे स्थितैकाङ्घ्रिरुत्प्लुतौ ॥ १३

॥ इति भैरवाञ्चितम् ॥ ३ ॥

*

यदाञ्चितवदुत्प्लुत्य निपतेद्भुवि[2] दण्डवत् ।
दण्डप्रणामाञ्चितकं वदन्ति नृत्यकोविदः ॥ १४

॥ इति दण्डप्रणामाञ्चितकम् ॥ ४ ॥

*

---

1 AB चैव करणं । 2 ABC निपतेद्भुवि । यदाञ्चितवदुत्प्लुत्य दण्डवन्नृत्यकोविदैः । दण्डप्रणामाञ्चितकं ।

तिरश्चैकेन पादेन समुत्प्लुत्य निपत्य चेत् ।
एकपादेन पृथ्व्यां चेत्तिष्ठेत्तिर्यक्कृतिस्तदा ॥ ३५

॥ इति तिर्यक्करणम् ॥ २४ ॥

*

तिर्यक्स्वस्तिकमुत्प्लुत्य स्यात्तिर्यक्स्वस्तिके कृते ॥ ३६

॥ इति तिर्यक्स्वस्तिकम् ॥ २५ ॥

*

पृथ्व्यां स्थित्वांसयुग्मेन कृत्वा चैवोत्कटासनम् ।
करणं चाश्रितं कृत्वा धृत्वाङ्गान्तरसम्वरे ॥ ३७
बाहुभ्यां भुवमाक्रम्य भ्रामं भ्रामं च पूर्ववत् ।
तिष्ठेत् प्रतिदिशं यत्र तत् स्कन्धभ्रान्तमुच्यते ॥ ३८

॥ इति स्कन्धभ्रान्तम् ॥ २६ ॥

*

सूचीनां त्रितयं प्रोक्तं तद्द्विधा परिकीर्तितम् ।
भौमाकाशविभेदेन समाद्यन्यतमां यदि ॥ ३९
करणानि दधत्यन्ते सूचीं प्राक्कथितानि तु ।
सूच्यन्तानि तदा तानि जायन्त इति सूरयः[1] ॥ ४०

॥ इति सूच्य[न्त]म् ॥ २७ ॥

*

सव्येतरेण पादेन स्थित्वा सव्याङ्घ्रिकुञ्चनात् ।
सव्यावर्तं भ्रमेद्यत्र सा बाह्यभ्रमरी मता ॥ ४१

॥ इति बाह्यभ्रमरी ॥ २८ ॥

*

अस्या एव विपर्यासादन्तर्भ्रमरिका भवेत् ॥ ४२

॥ इति अन्तर्भ्रमरी ॥ २९ ॥

*

स्थित्वैकेनाङ्घ्रिणा भूमौ दण्डवच्चोत्क्षिपेत् परम् ।
सव्यावर्तं भवेद्यत्र सा छत्रभ्रमरी मता ॥ ४३

॥ इति छत्रभ्रमरी ॥ ३० ॥

*

अङ्घ्रिस्वस्तिकमाधाय तिर्यग्भ्रमणतो भवेत् ॥ ४४

॥ इति तिरिपभ्रमरी ॥ ३१ ॥

*

1 Khaṇḍasūci, Viśamasūci and Samasūci-all the three seem to be described here.

वैष्णवं स्थानकं कृत्वा तिष्ठेत् सव्याङ्घ्रिणा ततः ।
देहं भ्रामयतस्तिर्यगलगभ्रमरी भवेत् ॥ ४५

॥ इत्यलगभ्रमरी ॥ ३२ ॥

*

खण्डसूच्या भ्रमाच्चक्रवच्चक्रभ्रमरी भवेत् ॥ ४६

॥ इति चक्रभ्रमरी ॥ ३३ ॥

*

देहस्य तिर्यग् भ्रमणात् समपादादनन्तरम् ।
उचितभ्रमरीं नाम ब्रूते शङ्करकिङ्करः ॥ ४७

॥ इति उचितभ्रमरी ॥ ३४ ॥

*

सा शिरोभ्रमरी ज्ञेया शिरसैव भुवि स्थिता ।
पादावूर्ध्वीकृतौ बिभ्रत् त्रिशो भ्रमणतो द्रुतम् ॥ ४८

॥ इति शिरोभ्रमरी ॥ ३५ ॥

*

भ्रामं भ्रामं सकृत् प्राग्वद्यत्र हस्तधृतक्षिति ।
चतुर्दिक्च क्रमात्तिष्ठेत्तदा दिग्भ्रमरी मता ॥ ४९

॥ इति दिग्भ्रमरी ॥ ३६ ॥

*

अन्येऽपि सन्ति भूयांसो भेदाः करणसंश्रयाः ।
स्वयं बुद्धिमतोह्यास्ते न प्रोक्ता विस्तराद्भिया ॥ ५०

उच्चैर्यदीयकरणानि मनोहराणि
तत्तत्स्वदेशललनालपनेषु चित्रम् ।
तेन त्रिलोकपरितोषकराणि राज्ञा
देशप्रसिद्धकरणानि विनिर्मितानि ॥ ५१

इति श्रीराजाधिराजश्रीकुम्भकर्णमहीमहेन्द्रेण विरचिते सङ्गीतराजे षोडशसाहस्र्यां सङ्गीतमीमांसायां नृत्यरत्नकोशे करणोल्लासे देशीकरणनिरूपणं नाम द्वितीयं परीक्षणं समाप्तम् ॥२॥

[आनन्दसञ्जीवनाद् उद्धृतं भ्रमरीविषयकं प्रकरणम् ।]

अथ आनन्दसंजीवनमध्यात्[1]–

चारीहस्तकसङ्घात् करणानि विदुर्बुधाः ।
प्रभवन्ति भिदास्तेषां भेदास्ते रससंमिताः ॥ १

क्वचिच्चारीवशाना(? न्ना)म क्वचिद्धस्तकपूर्वकम् ।
प्रसादे क्रियमाणे स्यात् कर्तव्यं नाट्यपण्डितैः ॥ २

---

1 BO ॥ श्री ॥

कर्त्तर्यञ्चितमेव च ।
चरणाभ्यां स्वस्तिकाभ्यामञ्चिते परिकीर्तितम् ॥ १५

॥ इति कर्तर्यञ्चितम् ॥ ५ ॥

*

समपादात् परं तिर्यगुत्प्लुतौ तिर्यगञ्चितम् ॥ १६

॥ इति तिर्यगञ्चितम् ॥ ६ ॥

*

विधाय पादावूर्ध्वाग्रौ समौ स्कन्धेन भूतलम् ।
आक्रम्योल्लालयेत्पादौ परिवर्तनमाचरेत् ।
तिर्यग्यत्र क्रमादेतत् समपादाञ्चितं विदुः ॥ १७

॥ इति समपादाञ्चितम् ॥ ७ ॥

*

दक्षिणाङ्घ्रिं भ्रामयित्वा तदीयतलपृष्ठतः ।
वामाङ्घ्रिजङ्घामध्यं चेदवष्टभ्याञ्चितं ततः ॥ १८
कृत्वा धरित्रीं स्कन्धाभ्यामधिष्ठाय विवर्तनम् ।
विधायोल्लालयेत्पादौ भ्रान्तपादाञ्चितं तदा ॥ १९

॥ इति भ्रान्तपादाञ्चितम् ॥ ८ ॥

*

उत्प्लुत्याधोमुखोऽग्रे च पतित्वा कुक्कुटासनम् ।
यत्र बध्नाति तत्प्रोक्तमलगं करणोत्तमम् ॥ २०

॥ इत्यलगम् ॥ ९ ॥

*

यदि स्यादलगे कूर्मासनं कूर्मालगं तदा ॥ २१

॥ इति कूर्मालगम् ॥ १० ॥

*

समाङ्घ्रेरूर्ध्वसंस्थाने पतित्वोर्ध्वालगं भवेत् ॥ २२

॥ इत्यूर्ध्वालगम् ॥ ११ ॥

*

कृत्वालगं निपत्योर्व्यामुत्तानोरःस्थलं स्थितः ।
पृष्ठतः शिरसा श्रोणिं स्पृशेच्चेदन्तरालगम् ॥ २३

॥ इत्यन्तरालगम् ॥ १२ ॥

*

यत्र कृत्वा समौ पादौ विवृत्य त्रिकमुत्प्लुतेत् ।
तिर्यक् तल्लोहडीसंज्ञम् ।

॥ इति लोहडी[1] ॥ १३ ॥

*

लोहडीलुण्ठितं भुवा ॥ २४

---

1 ABC put लोहडी after भुवा । But लोहडी लुण्ठितं भुवा seems to be a part of the definition of एकपाद लोहडी.

एकपादप्रयुक्तेयमेकपादादिलोहडी ॥ २५

॥ इत्येकपादलोहडी ॥ १४ ॥

*

एकपादलुठितं वा ।
लोहड्येव स्वस्तिकाङ्घ्रिरचिता लोहडी(? कर्तरी)मता ॥ २६

॥ इति कर्त्तरीलोहडी ॥ १५ ॥

*

दर्पसरणं प्रोच्यतेऽधुना ।
वैष्णवं स्थानमास्थाय पृथ्व्यां चेत् पार्श्वतः पतेत् ॥ २७

॥ इति दर्पसरणम् ॥ १६ ॥

*

जलशायिवदेतत् स्यादासने जलशायिकम् ॥ २८

॥ इति जलशयनम् ॥ १७ ॥

*

तदेव नागबन्धं स्यान्नागबन्धवदासने ॥ २९

॥ इति नागबन्धम् ॥ १८ ॥

*

समपादस्थितो भूमौ शीर्ष्णा संस्पृश्य भूतलम् ।
परावृत्तिं वितनुते कपालचूर्णितं हि तत् ॥ ३०

॥ इति कपालचूर्णितम् ॥ १९ ॥

*

कपालचूर्णने जाते वक्षस्युत्तानिते नते ।
नतपृष्ठं परैरुक्तं वंकोलं करणं त्विदम् ॥ ३१

॥ इति नतपृष्ठम् ॥ २० ॥

*

कृत्वोत्प्लवनमावर्त्य मध्यं पार्श्वेन मत्स्यवत् ।
वामेन परिवर्तेच्चेत्त(?तत)न्मत्स्यकरणं भवेत् ॥ ३२

॥ इति मत्स्यकरणम् ॥ २१ ॥

*

अलगं विधाय करणं हस्तेनाश्रित्य नर्तकी भूमिम् ।
परिवर्तेत यदेदं स्पर्शनमुक्तं कराद्यं तत् ॥ ३३

॥ इति करस्पर्शनम् ॥ २२ ॥

*

कृत्वोत्प्लवनं सूचीमन्यतमां खे विधाय चेद्व्रजते ।
भूमावूर्ध्वस्थानं यदोत्कटासनं तदाप्लुतं चैणम् ॥ ३४

॥ इत्येणप्लुतम् ॥ २३ ॥

*

यथा गीते सदाभोगः शिखरत्वे निरूपितः ।
तथा नृत्ये च तासां तु नर्तनं कलशोपमम् ॥ ३
आभोगनर्तने प्रोक्ता भ्रमर्यो मुख्यतो बुधैः ।
विशेषाद्भ्रमकादीनां सुप्रभास्ताः प्रकीर्तिताः ॥ ४
भरतोक्ता अपि त्यक्त्वा अल्पाल्पाः करणे स्वके ।
ताभ्यः कियत्यो वक्ष्यन्ते कामसंजीविकास्तु याः ॥ ५

*

पताकं हृदये न्यस्य करेऽन्यस्मिन् प्रसारिते ।
तदेवाङ्गं बहिः क्षिप्त्वा भ्रमणाद् हृदयङ्गमाः ।
भ्रमे यत्र स्मृतोऽभ्यासमुहृद्भिस्त्रिःपुरःसरम् ॥ ६

॥ इति हृदयंगमाः ॥ १ ॥

*

बाह्वोः पताकौ संन्यस्य भ्रमणादङ्कमौलिका ।
शिरःपल्लविका चाथ द्वितीया कथ्यतेऽधुना ॥ ७
ललाटे तु पताकः स्या[द्] भवेदन्यः प्रसारितः ।
बाह्वोः प्रसारणं कृत्वा करौ स्यातां द्रुतभ्रमौ ।
नर्तनाच्च शिरोदेशे द्वितीया शीर्षपल्लवा ॥ ८

॥ इति शीर्षपल्लवाद्वयम् ॥ २ ॥

*

एकाङ्घ्रिं कुञ्चितं कृत्वा द्वितीये पार्ष्णितः स्थिते ।
यथोल्लासकरौ तस्यां भ्रमणात् कुञ्चिता मता ॥ ९

॥ इति कुञ्चिता ॥ ३ ॥

*

ताले ताले कुञ्चिता स्यात् तथैवाङ्कस्थिता सती ।
कुञ्चितायाः द्रुतस्पर्शा विज्ञेया भूमिपल्लवा ॥ १०

॥ इति भूमिपल्लवा ॥ ४ ॥

*

प्रसार्य बाहुयुगले समे वाङ्घ्रिद्वये स्थिता ।
तत्र वेगभ्रमणतो विज्ञेया चक्रवर्तिनी ॥ ११

॥ इति चक्रवर्तिनी ॥ ५ ॥

*

सकृद्रेचितहस्तश्चेत् त्यक्त्वा स्थानं च संभ्रमात् ।
मण्डला सापि निर्दिष्टा द्विधाऽन्या सा प्रकीर्तिता ॥ १२

लास्ये तु या भुवस्त्यक्तं वस्तु गृह्णातु पण्डितः ।
मुहुर्मुहुः भ्रमी या सा लास्यमण्डलिका तु सा ॥ १३

॥ इति लास्यमण्डलिका ॥ ६ ॥

*

तिर्यक् स्वास्फालनेनैव भ्रमणाल्लम्बहस्तयोः ।
तिर्यग् मण्डलिका नाम द्विलीयेयं प्रकीर्तिता ॥ १४

॥ इति तिर्यग्मण्डलिका ॥ ७ ॥

*

सकृत् पार्ष्णिगता भ्रान्त्वा चक्रवद्वेगिता सती ।
तथैवोपविशेद्भूमौ लयात् सिंहासना मता ॥ १५

॥ इति सिंहासना ॥ ८ ॥

*

भ्रमती मण्डले या सा त्वराभ्रमणसंगता ।
पार्ष्णिजभ्रमरीत्युक्ता मुहुः सा परिमण्डली[1] ॥ १६

॥ इति परिमण्डली ॥ ९ ॥

*

धूनयती करौ स्वीयौ पादयोः कुञ्चिताग्रयोः ।
न्युब्जं तिर्यग् ययोः कुर्याद् मुहुस्तिर्यक्कृते मते ॥ १७

॥ इति न्युब्जकृता ॥ १० ॥

*

स्थित्वा चैकाङ्घ्रिणा चान्यं दण्डवच्च प्रसारयेत् ।
यथा भ्रमति सा तस्माद्विज्ञेया तलदर्शिनी ॥ १८

॥ इति तलदर्शिका ॥ ११ ॥

*

तिर्यक्पताके चोत्ताने त्वन्येनाच्छादिते सति ।
यथा भ्रमर्यौ[2] भ्रमरी प्रोक्ता मेलापनी बुधैः ॥ १९

॥ इति मेलापनी ॥ १२ ॥

*

बह्वयश्चान्या भवन्त्येताः सव्यजा-अपसव्यजाः ।
लास्येनैव समुद्भूता धन्यास्ता अन्यतोऽधमाः ॥ २०
एतद्राज्ञां पुरंध्रीणामुद्दिष्टं यन्मयाधुना ।
नात्र ग्राम्यकृता भावा योज्यास्ते नाट्यकोविदैः ॥ २१
मस्तका भ्रमरी विद्यादथो न्युब्जादिपातनम् ।
अङ्घ्रेर्भूमेश्च यो योगः स च नैसर्गिको मतः ।
अन्याङ्गेन समायोगो न कार्यश्च नरैः सदा ॥ २२

1 BC परीमंडली । 2 ABC repeat भ्रामरी ।

उच्चैर्यदीयकरणानि मनोहराणि
तत्तत्स्वदेशललनालपमे(?ने)षु चित्रम्।
तेन त्रिनेत्रपरितोषकरेण राज्ञा
देशप्रसिद्धकरणानि विनिर्मितानि॥ २३

॥ इति अमर्यः ॥ १३ ॥

तृतीयोल्लासे तृतीयं परीक्षणम्।

*

किमङ्गहारस्तव नागराजः किं नागराजस्य हृतिस्तवाङ्ग।
इत्थं ह सोक्तो नगराजकन्यया ननर्त देवः सकलाङ्गहारकैः॥ १

*

[अङ्गहाराः ।]

न व्यग्रैः करणैर्दृष्टमदृष्टं वा प्रसाध्यते।
अतस्तद्वयसंपत्त्यै तत्समूहं ब्रुवेऽधुना॥ २
यच्छिरःप्रमुखाङ्गानां प्रदेशमुचितं प्रति।
प्रापणं सविलासं तदङ्गहारोऽभिधीयते॥ ३
अङ्गप्रयोगयोगेन ये हारा हरनिर्मिताः।
मध्यस्थपदलोपेन तेऽङ्गहाराः स्मृता बुधैः॥ ४
[1]औचित्यान्मेलनेऽङ्गानां प्रयोगः क्रमपेशलः।
करणं कीर्त्यते तज्ज्ञैस्तद्द्वयं मातृकाः स्मृताः॥ ५
त्रिभिः कलापकस्तैश्च चतुर्भिः खण्डको मतः।
संघातः पञ्चभिस्तैश्च संज्ञाभेदा इतीरिताः॥ ६
तत्समूहविशेषश्चाङ्गहारस्तत्परः स्मृतः।
तिसृभिः पञ्चभिर्वा स्यान्नवभिर्वा यथोदितम्॥ ७
अङ्गहारो मातृकाभिरेकः स्यान्मुनिनोदनात्।
करणन्यूनताधिक्यं यत्र नो दूषणाय तत्॥ ८
मुनिनैव स्वयं सूत्रे विकल्पस्यानुशासनात्।
परिभाषाङ्गहाराणां मयैवादौ प्रदर्शिता॥ ९
अथोद्देशपरं लक्ष्म यथाशास्त्रं प्रदर्श्यते।

---

1 ABC ऊचित्यान्मेलने।

स्थिरहस्तोऽथ पर्यस्तो भ्रमरश्चापसर्पितः ॥ १०
आक्षिप्तोऽथ परिच्छिन्नस्तथा वैशाखरेचितः ।
पार्श्वस्वस्तिकसंज्ञश्च सूचीविद्धोऽपराजितः ॥ ११
मदाद्विलसिताख्यश्च मत्ताक्रीडस्ततः स्मृतः ।
आलीढश्चाच्छुरितकः पार्श्वच्छेदाभिधस्ततः ॥ १२
विद्युद्भ्रान्त इति प्रोक्ता अङ्गहारास्तु षोडश ।
मानेन चतुरस्रेण मानदानविपश्चिता ॥ १३
विष्कुम्भापसृतो मत्तस्खलितो म(?ग)तिमण्डलः ।
अपविद्धश्च विष्कुम्भोद्घट्टिताक्षिप्तरेचिताः ॥ १४
रेचितोऽर्धनिकुट्टश्च वृष्णि(?श्चि)कापसृतस्ततः ।
अलातकः परावृत्तः परिवृत्तकरेचितः ॥ १५
उद्वृत्तश्चैव संभ्रान्तस्ततः स्वस्तिकरेचितः ।
षोडशैते त्र्यस्रमाना द्वात्रिंशदुभयेऽप्यमी ॥ १६
करणव्रातसंदर्भविशेषश्चाङ्गहारकः ।
इत्युक्ते स्यात्तदानन्त्यं ग्रन्थवैचित्र्यहेतुकम् ॥ १७
प्राधान्यं विनियोगस्य समाश्रित्येयतां कृता ।
गणना गुम्फवैचित्र्यात् स्वयमूह्याः परैप(?रस्प)रैः ॥ १८
लीनं समनखं कृत्वा व्यंसितं च निकुट्टकम् ।
ऊरूद्वृत्तं विधायाथ स्वस्तिकाक्षिप्तके तथा ॥ १९
नितम्बं करिहस्तं च कटीछिन्नमिति क्रमात् ।
दशभिः करणैः प्रोक्तः स्थिरहस्तो महीभृता ।
द्वात्रिंशदङ्गहारेषु ज्ञेयमन्तमवस्थितम् ॥ २०

*

[चतुरस्रमानेनाङ्गहाराः ।]

अनुक्तमपि तत्त्वज्ञैः कटीछिन्नं तु लक्ष्मगम् ।
विधाय लक्ष्म सूत्रस्थं करणद्वन्द्वमादितः ॥ २१
चतुर्दिक्षु ततोऽन्यानि करणानि क्रमेण च ।
नृत्यवैचित्र्यमाधातुमङ्गहारेषु वर्तयेत्[1] ॥ २२

॥ इति स्थिरहस्तः ॥ १ ॥

*

तलपुष्पपुटं तद्वदपविद्धं च वर्तितम् ।
निकुट्टमूरूद्वृत्ताख्यमाक्षिप्तं तदनन्तरम् ॥ २३

1 BO वर्तते ।

उरोमण्डलमास्थाय नितम्बं करिहस्तकम् ।
दशभिः करणैरेभिः कार्यः पर्यस्तकाभिधः ॥ २४

॥ इति पर्यस्तकः ॥ २ ॥

*

नूपुरं च तथाक्षिप्तं छिन्नं सूचीनितम्बकम् ।
करिहस्तं तथा चोरोमण्डलक्रमतोऽष्टभिः ।
एभिस्तु करणैः प्रोक्तो भ्रमरो भ्रमपेशलः ॥ २५

॥ इति भ्रमरः ॥ ३ ॥

*

अपक्रान्तं व्यंसितस्य केवलं करजाः क्रियाः ।
करिहस्तं चार्धसूचि विक्षिप्तं च ततः परम् ॥ २६
कटीछिन्नं तथा चोरूद्वृत्तमाक्षिप्तकं पुनः ।
करिहस्तमिति प्रोक्तं नवकं करणोद्भवम् ।
अपसर्पितसंज्ञे स्यादङ्गहारे हरप्रिये ॥ २७

॥ इत्यपसर्पितः ॥ ४ ॥

*

नूपुरं चैव विक्षिप्तमलताक्षिप्तके ततः ।
उरोमण्डलकं चैव नितम्बं करिहस्तकम् ॥ २८
करणैरष्टभिः प्रोक्तो बुधैराक्षिप्तिकोऽत्र च ।
विक्षिप्तालातकाक्षिप्तान्यत्र केचिद् द्विरभ्यधुः ॥ २९

॥ इत्याक्षिप्तिकः ॥ ५ ॥

*

कृत्वा समनखं छिन्नं संभ्रान्तं दक्षिणाङ्गतः ।
वामतो भ्रमरे चार्धसूच्यतिक्रान्तमेव च ॥ ३०
भुजङ्गत्रासितं पश्चात् करिहस्तं क्रमादिति ।
नवभिः करणैः प्रोक्तः परिच्छिन्नोऽङ्गहारकः ॥ ३१

॥ इति परिच्छिन्नः ॥ ६ ॥

*

अङ्गद्वयेन वैशाखरेचितं चाथ नूपुरम् ।
भुजङ्गत्रासितोन्मत्ते मण्डलस्वस्तिके ततः ॥ ३२
निकुट्टमूरूद्वृत्तं चाक्षिप्तोरोमण्डले तथा ।
करिहस्तं क्रमादेतैरेकादशभिरुच्यते ।
वैशाखरेचितो नाम विशाखे[1] पितृसेविना ॥ ३३

॥ इति वि(?वै)शाखा(?ख)रेचितः ॥ ७ ॥

*

---

1. The reading may be विशाखेऽपि नृसेदिना । The meaning in both the cases is not clear.

दिक्स्वस्तिकं विधायैकेनाङ्गेनार्धनिकुट्टकम् ।
पुनर्दिक्स्वस्तिकं कृत्वाऽन्याङ्गेनार्धनिकुट्टकम् ॥ ३४
अपविद्धमूरूद्वृत्तं चाक्षिप्तं च नितम्बकम् ।
करिहस्तमिति प्रोक्तो दशभिः करणैरयम् ।
पार्श्वस्वस्तिकसंज्ञोऽयमङ्गहारो हरार्चने ॥ ३५

॥ इति पार्श्वस्वस्तिकः ॥ ८ ॥

*

अर्धसूच्यथ विक्षिप्तमावर्तं च निकुट्टकम् ।
अथोरूद्वृत्तमाक्षिप्तमुरोमण्डलकं ततः ।
करिहस्ते तथा सूचीविद्धोऽभून्नवभिः स्फुटः ॥ ३६

॥ इति सूचीविद्धः ॥ ९ ॥

*

अपराजितसंज्ञे स्याद् दण्डपादं ततः परम् ।
व्यंसितं प्रसर्पितं च निकुट्टार्धनिकुट्टके ॥ ३७
आक्षिप्तोरोमण्डले च करिहस्तमितीरितैः ।
नवभिर्लक्षणं प्रोक्तं मुनिभिर्भरतादिभिः ॥ ३८

॥ इत्यपराजितः ॥ १० ॥

*

बहुशश्चित्रगुम्फानि मदस्खलितकं तथा ।
मतल्लिकरणं चैव तलसंस्फोटितं तथा ॥ ३९
कृत्वैतानि निकुट्टं चोरूद्वृत्तं करिहस्तकम् ।
आद्यत्रिकद्विरभ्यासादस्मिन् तानि तथा दश ॥ ४०
चतुःपञ्चादिकान् केचित् त्रिकेऽभ्यासान् विदुर्बुधाः ।
मदाद्विलसिते तच्च लक्षणस्थं मयोदितम् ॥ ४१

॥ इति मदविलसितः ॥ ११ ॥

*

दक्षिणाङ्गेन रचयेद् भ्रमरं नूपुरं तथा ।
भुजङ्गत्रासितं चैव ततो वाम(?मे)न चैव हि ॥ ४२
वैशाखरेचिताक्षिप्तच्छिन्नानि भ्रमरं तथा ।
उरोमण्डलसंज्ञं च नितम्बं करिहस्तकम् ।
एकादशभिरेव स्यान्मत्ताक्रीडोऽङ्गहारकः ॥ ४३

॥ इति मत्ताक्रीडः ॥ १२ ॥

*

वामतो व्यंसितं कुर्यान्निकुट्टं चतुरं ततः ।

द्वि[:] कृत्वालातकाक्षिप्ते उरोमण्डलकं तथा ।
अष्टभिः करणैरत्रालीढः सकरिहस्तकैः ॥ ४४

॥ इत्यालीढः ॥ १३ ॥

*

नूपुरं भ्रमरं कृत्वा व्यंसितालातके तथा ।
नितम्बसूचिसंज्ञं वाच्छुरिते कर(?रि)हस्तकम् ।
अष्टभिः करणैरस्मिन् लक्ष्म प्रोक्तं मनीषिभिः ॥ ४५

॥ इत्याच्छुरितः ॥ १४ ॥

*

पार्श्वच्छेदे च करणं कुर्याद्वृश्चिककुट्टितम् ।
ऊर्ध्वजानु तथाक्षिप्तं स्वस्तिकं च ततः परम् ॥ ४६
परिवर्त्त्य त्रिकं चोरोमण्डलं च नितम्बकम् ।
करिहस्तेन सहितं करणाष्टकमीरितम् ॥ ४७

॥ इति पार्श्वच्छेदः ॥ १५ ॥

*

अर्धसूचि तु वामाङ्गे विद्युद्भ्रान्तं च दक्षिणे ।
पुनरंसे विपर्यासाद् द्वयं छिन्नं ततः परम् ॥ ४८
अतिक्रान्तं वामतोऽथ लतावृश्चिकसंज्ञकम् ।
अष्टभिः करणैरेष विद्युद्भ्रान्तः प्रकीर्तितः ॥ ४९

॥ इति विद्युद्भ्रान्तः ॥ १६ ॥

॥ इति चतुरस्रमानेन षोडशाङ्गहाराः ॥

*

[त्र्यस्रमानेनाङ्गहाराः ।]

अथ त्र्यस्रेण मानेन षोडशान्यान् प्रचक्ष्महे ।
निकुट्टार्धनिकुट्टे च भुजङ्गत्रासितं तथा ॥ ५०
ततोऽपि करणं कार्यं भुजङ्गत्रस्तरेचितम् ।
आक्षिप्तोरोमण्डले च क्रमात् कृत्वा लताकरम् ।
विष्कुम्भापसृते ज्ञेयं करणानां तु सप्तकम् ॥ ५१

॥ इति विष्कुम्भापसृतः ॥ १ ॥

*

मतल्लि गण्डसूचि स्याल्लीनं चाप्यपविद्धकम् ।
चत्वारि द्रुतमानेन तलसंस्फोटितं ततः ।
करिहस्तं च सप्त स्युर्मत्तस्खलितसंज्ञके ॥ ५२

॥ इति मत्तस्खलितः ॥ २ ॥

*

[1]मण्डलस्वस्तिकं [छिन्नं] निवेशा(?शो)न्मत्तके ततः ।
उद्धट्टितं मतल्लिः स्यादाक्षिप्तमतः परम् ।
उरोमण्डलकं [2]चाष्टगतिमण्डलसंज्ञके ॥ ५३

॥ इति गतिमण्डलः ॥ ३ ॥

*

अपविद्धे कटिच्छिन्नं सूचीविद्धमथो करौ[3] ।
उद्वेष्टितौ[4] ततश्चारी बद्धा च वलितं[5] त्रिकम् ॥ ५४
ऊरूद्वृत्तं च करणमुरोमण्डलकं तथा ।
पञ्चैव करणानि स्युरन्तिमेन सहात्र तु ॥ ५५

॥ इत्यपविद्धः ॥ ४ ॥

*

विष्कुम्भे नवकं ज्ञेयं निकुट्टं [च] निकुञ्चितम् ।
अञ्चितं च क्रमादूरू[6]द्वृत्तमर्धनिकुट्टकम् ॥ ५६
भुजङ्गत्रासितं कार्यौ हस्तावुद्वेष्टितौ ततः ।
भ्रमरं करिहस्तं चेत्येभिर्लक्षणगैः क्रमात् ॥ ५७

॥ इति विष्कुम्भः ॥ ५ ॥

*

पञ्चैवोद्धट्टिते तानि निकुट्टाख्यमतः परम् ।
स्यादुरोमण्डलं चैव नितम्बं करिहस्तकम् ॥ ५८

॥ इत्युद्धट्टितः ॥ ६ ॥

*

आक्षिप्तरेचिते कार्यमाद्यं[7] स्वस्तिकरेचितम् ।
पृष्ठस्वस्तिकसंज्ञं तु दिक्स्वस्तिकमतः परम् ॥ ५९
कटीसमं चूर्णितं च भ्रमरं च ततः परम् ।
स्याद्वृश्चिकरेचितं च ततः पार्श्वनिकुट्टकम् ॥ ६०
उरोमण्डलसंज्ञं च संनतं च ततः परम् ।
सिंहाकर्षितकं नागापसर्पितसमाह्वयम् ॥ ६१
अत्र वक्षःस्वस्तिकं च वैकल्पिकमुदीरितम् ।
दण्डपक्षं च करणं ललाटतिलकं ततः ॥ ६२

---

1 मण्डलस्वस्तिकादूर्ध्वं निवेशोन्मत्तसंज्ञिके । उद्धट्टिताख्यं मत्तल्लिः स्यादाक्षिप्त-मतः परम् ॥ उरोमण्डलकं छिन्नं कट्यादिगतिमण्डले । इत्यष्टौ करणानि स्युरिति निःशङ्कभाषितम् ॥ सं. र. अ. ७ श्लो. ८४३-४४. 2 ABC चाथ । 3 C करो । 4 C उद्वेष्टितो । 5 AB ललितं । 6 ABC °रूद्वर्त्त । 7 BC चार्य° ।

षोडशं करणं ज्ञेयमथो तलविलासितम्।
निशुम्भितं विद्युद्भ्रान्तं गजक्रीडितकं ततः॥ ६३
नितम्बविष्णुक्रान्ताख्योरूद्वृत्ताक्षिप्तकानि च।
उरोमण्डलसंज्ञं तु नितम्बं करिहस्तकम्॥ ६४
कटीछिन्नमिति प्राहुः सप्तविंशतिरत्र वै।
वैकल्पितं कटीछिन्नं केचिदाक्षिप्तरेचितम्॥ ६५
इच्छन्ति तन्मतेऽत्र स्युर्विंशतिः पञ्च चैव हि।
नितम्बोरोमण्डलयोरावृत्तिं ये च मन्वते॥ ६६
करणानि मते तेषामत्र स्युः सप्तविंशतिः।
ये वक्षःस्वस्तिकं चात्र कटीछिन्नं च नो जगुः।
पञ्चविंशतिरेव स्युस्तदा वृत्त्यापि तन्मते॥ ६७

॥ इत्याक्षिप्तरेचितः ॥ ७ ॥

*

रेचिते करणं पूर्वं कुर्यात् स्वस्तिकरेचितम्।
अर्धरेचितकं पश्चाद्वक्षःस्वस्तिकमेव च॥ ६८
उन्मत्तसंज्ञकं पश्चात् कुर्यादाक्षिप्तरेचितम्।
अर्धमत्तल्लिकरणं स्याद्रेचकनिकुट्टकम्॥ ६९
विधायैतानि कार्यं च भुजङ्गत्रस्तरेचितम्।
नूपुरं करणं कृत्वा कार्यं वैशाखरेचितम्॥ ७०
भुजङ्गाञ्चितकं दण्डरेचितं चक्रमण्डलम्।
वृश्चिकं रेचितं कृत्वा कुर्याद् व्यंसितमेव च॥ ७१
विवृत्तं विनिवृत्तं च वर्तितं गरुडप्लुतम्।
मयूरललितं चैव सर्पितं स्खलिताभिधम्॥ ७२
प्रसर्पितं च करणं तलसंघट्टितं तथा।
वृषभक्रीडितं कुर्याल्लोलितं च ततः परम्॥ ७३
षड्विंशतिरितीमानि परिवृत्तिप्रकारतः।
विधाय विषमैर्भागै[:][1] पर्यायाद्दिक्चतुष्टये।
उरोमण्डलकाद्यं च ततः कुर्याद् द्विकं सुधीः॥ ७४

॥ इति रेचितः ॥ ८ ॥

*

नूपुरं च विवृत्तं च निकुट्टार्धनिकुट्टके।
अर्धरेचितकं पश्चात् स्याद्रेचकनिकुट्टकम्॥ ७५

---

1 ०भागे।

ललिताख्यं च वैशाखरेचितं चतुरं ततः ।
दण्डरेचितकं पश्चात् कार्यं वृश्चिककुट्टितम् ॥ ७६
पार्श्वनिकुट्टकं पश्चात् संभ्रान्तोद्धट्टितेऽपि च ।
उरोमण्डलकं पश्चात् करिहस्तं सहान्तिमम् ॥ ७७
एवमर्धनिकुट्टे स्युर्दश सप्त च संख्यया ।

॥ इति अर्धनिकुट्टकः ॥ ९ ॥

*

वृश्चिकापसृते कार्यं लतावृश्चिकमादितः ॥ ७८
निकुञ्चितं मतल्लिः स्यान्नितम्बं करिहस्तकम् ।
षडेतानि महान्त्येव नितम्बस्ला(?स्था)नके परे ॥ ७९
इच्छन्ति भ्रमरं तानि तन्मतेऽपि षडेव हि ।

॥ इति वृश्चिकापसृतः ॥ १० ॥

*

स्वस्तिकं व्यंसितं तु द्विरलाताख्योर्ध्वजानुनी ॥ ८०
निकुञ्चितार्धसूच्याख्यविक्षिप्तोद्वृत्तकान्यथ ।
आक्षिप्तं करिहस्तं चैकादश स्युरलातके ॥ ८१
व्यंसितं द्विः प्रयुज्येत तदैकमधिकं भवेत् ।

॥ इत्यलातकः ॥ ११ ॥

*

परावृत्ते दक्षिणाङ्के जनितं शकटास्यकम् ॥ ८२
अलातं भ्रमरं चाथ गण्डे करनिकुट्टकम् ।
करिहस्तं क्रमात् षट्कं करणानामिहेरितम् ॥ ८३
निकुट्टनमिहाङ्गस्य नमनोन्नमनं मतम् ।

॥ इति परावृत्तः ॥ १२ ॥

*

परिवृत्तेऽङ्गहारे तु नितम्बं करणं ततः ॥ ८४
करणानुक्रमणे चैव कुर्यात् स्वस्तिकरेचितम् ।
विक्षिप्ताक्षिप्तकमथो लता वृश्चिकमेव च ॥ ८५
उन्मत्तं करिहस्तं च भुजङ्गत्रासितं तथा ।
आक्षिप्तिकं[1] नितम्बं च नितम्बान्तान्यमून्यथ ॥ ८६
नवभ्रमरकाख्येन परिवृत्त्या समाचरेत् ।
दिगन्तरमुखस्थित्येत्यावर्त्यापरयोर्दिशोः ॥ ८७
करिहस्तकटीछिन्ने विदध्यादाद्यदिक्स्थितः ।

1 ABC °क्षिति° ।

अङ्गहारान्तरेष्वेव परिवर्त्य विधिस्त्वयम् ॥ ८८
मुक्त्वाऽन्त्यकरणद्वन्द्वं केचिदाद्यं विमुच्य च ।
आहुः पुरातनाचार्या भट्टाभिनवपूर्वकाः ॥ ८९

॥ इति परिवृत्य(?त्त)रेचितः ॥ १३ ॥

*

चतुरं करणं कृत्वा भुजङ्गाञ्चितकं ततः ।
गृध्रावलीनकं कार्यमङ्गद्वन्द्वे पृथक् ततः ॥ ९०
विक्षिप्ते करणे कार्ये उद्वृत्तं सूचिसंज्ञकम् ।
नितम्बं करणं पश्चाल्लतावृश्चिकमेव च ॥ ९१
नवभिः करणैः प्रोक्त उद्वृत्तः पूर्वसूरिभिः ।
विक्षिप्तोद्वृत्तके द्विश्चेदधिकं तद्द्वयं भवेत् ॥ ९२

॥ इत्युद्वृत्तः ॥ १४ ॥

*

विक्षिप्तमञ्चितं चैव गण्डसूचि ततः परम् ।
गङ्गावतरणं पश्चादर्धसूचि ततः परम् ॥ ९३
दण्डपादं च वामाङ्गे साधयेत्तदनन्तरम् ।
चतुरं भ्रमरं चाथ नूपुराक्षिप्तके तथा ॥ ९४
अर्धस्वास्तिकसंज्ञं च नितम्बं करिहस्तकम् ।
उरोमण्डलकं चैवेत्येवं पञ्चदशाब्रुवन् ॥ ९५
अङ्गहारे च संभ्रान्ते करणानि मनीषिणः ।

॥ इति संभ्रान्तः ॥ १५ ॥

*

वैशाखरेचितं चैव वृश्चिकं द्विः प्रयुज्य च ॥ ९६
निकुट्टकाभिधं कुर्यात्ततः कार्यौ लताकरौ ।
अन्तिमेन सहैतानि षट् स्युः स्वस्तिकरेचिते ॥ ९७

॥ इति स्वस्तिकरेचितः ॥ १६ ॥

*

कटिभ्रान्तमर्गलं च पार्श्वजानु तथैव च ।
हरिणप्लुतकं कार्यं ततः प्रेङ्खोलितं पुनः ॥ ९८
अवहित्थं चापसृतं छिन्नं च कटिपूर्वकम् ।
करणं नवमं कार्यं नवीनभरतोक्तितः ।
गोविन्दप्रियसंज्ञोऽयं कार्यो गोविन्दपूजने ॥ ९९

॥ इति गोविन्दप्रियः ॥ १७ ॥

*

करणं वलितोरुः स्याद्वलितं च ततः परम् ।
पादापविद्धं च ततो दोलापादां समाश्रयेत् ॥ १००
पार्श्वक्रान्तं परिवृत्तं सिंहविक्रीडितं ततः ।
एलकाक्रीडितं पश्चात् कटीछिन्नमतः परम् ॥ १०१
नवभिः करणैरेभिर्निर्मितः कुम्भभूभुजा ।
माधवप्रियसंज्ञोऽयं प्रयुक्तो माधवार्चने ॥ १०२

॥ इति माधवप्रियः ॥ १८ ॥

॥ इति त्र्यस्रमानेनाष्टादशाङ्गहाराः ॥

*

[अङ्गहारविधिः ।]

विनियोगोऽङ्गहाराणां पूर्वरङ्गाङ्गगो बुधैः ।
ज्ञातव्यो मुरजाद्यैश्च वाद्यैस्ताललयानुगैः ॥ १०३
वर्धमानासारितेषु पाणिका गीतिकादिषु ।
उत्थापनादिषु प्रायः श्रेयः परमकाङ्क्षिभिः ॥ १०४
अङ्गहाराङ्गतायां[1] तु करणानामपीरितः ।
विनियोगः फलं वापि पृथक्त्वेन प्रयोगतः ॥ १०५

॥ इति द्वात्रिंशदङ्गहारलक्षणम् ॥ १ ॥

*

स्थिरहस्तो दानविधौ पर्यस्तश्चापसर्पितोऽरिजनः ।
आक्षिप्तो येन रणे विद्युद्भ्रान्तः परं षड्जः ॥ १०६

इति श्रीराजाधिराजश्रीकुम्भकर्णमहीमहेन्द्रेण विरचिते संगीतराजे षोडशसाहस्र्यां संगीतमीमांसायां नृत्यरत्नकोशे करणोल्लासे अङ्ग[हार]परीक्षणं तृतीयं[2] समाप्तम् ।

———o———

तृतीयोल्लासे चतुर्थं परीक्षणम् ।

उद्वृत्तोऽपि न संभ्रान्तो विषयैर्योऽपराजितः ।
मत्ताक्रीडोऽपरिच्छिन्नप्रभावस्तं भजे शिवम् ॥ १

अथ भरतमुनीश्वराभिमत्या
निगदति रेचकलक्षणं नरेशः ।
करचरणकटीषु कण्ठदेशे
पुनरुदिता तदवस्थितिर्मुनीन्द्रैः ॥ २

---

1 ० अंगहारान् गतानां तु । नृ. र. को. in भ. को. पृ. ७ । 2 BC drop तृतीयं ।

यदपि च गदितोऽङ्गहारमध्ये
मुनिविभुना ननु रेचकः समस्तः ।
तदपि च पृथगुच्यते यतोऽयं
फलजनने गदितः पृथक् समर्थः ॥ ३

*

[रेचकलक्षणम् ।]

स भवति कररेचकः क्रमाद् या
भ्रमणततिः परितोऽति तूर्णजाता ।
विरचितवरहंस[हंस][1]पक्षा-
कृतित इति प्रचुरोपनृत्यकर्त्री ॥ ४

॥ इति कररेचकः ॥ १ ॥

*

स भवति चरणोद्भवः प्रयला-
न्नमनमथोन्नमनं झटित्युपेतः ।
अतिचलचरणाग्रदेशभूतो
य इह चलाचलपार्ष्णिभागजातः ॥ ५

॥ इति चरणरेचकः ॥ २ ॥

*

भ्रमणमिह करोति सर्वदिक्षु
यदिह कटी कटिरेचकं[2] तमाहुः ।

॥ इति कटिरेचकः ॥ ३ ॥

*

प्रसृत[3]विरलिताङ्गुलेस्तिरश्चा-
भ्रमणलयेन गलस्य याति शीघ्रा ॥ ६
गलगतविधुतभ्रमिः प्रदिष्टो
मुनिविभुना किल कण्ठरेचकोऽयम् ।

॥ इति कण्ठरेचकः ॥ ४ ॥

*

इति समुदितरेचकैश्च नृत्यं
भवति मनोहरणं मुनीश्वराणाम् ॥ ७

॥ इति रेचकलक्षणम् ॥

*

---

1 ABC वरहंसपक्षाकृति । In भ. को. पृ. ८१३ विरचितवरहंसहंसपक्षाकृति° ।
2 ABC °रेचितः । 3 B प्रसृति ।

यः शौर्यधैर्यगांभीर्यैर्न केनाप्यति रे(?रि)च्यते ।
तेन श्री कुम्भकर्णेन कृतं रेचक[ल]क्षणम् ॥

इति सरस्वतीरससमुद्भूतकैरवोद्याननायकेन अभिनवभरताचार्येण मालवाम्भोधिमाथमन्थमहीधरेण योगिनीप्रसादासादितयोगिनीपुरेण मण्डलदुर्गोद्धरणोद्धृतसकलमण्डलाधीश्वरेण अजयमेरुजयाजेयविभवेन यवनकुलाकालकालरात्रिरूपेण शाकंभरीरमणपरिशीलनपरिप्राप्तशाकंभरीतोषितशाकंभरीप्रमुखशक्तित्रयेण नागपुरोद्धूलनप्रचण्डपवनेन अर्बुदाचलग्रहणसंदर्शिताचलाद्भुतप्रतापेण गूर्जराधीशधीरत्वोन्मूलनप्रचण्डपवनेन श्रीमत्कुम्भलमेरुनवीननिर्मितसुमेरुणा श्रीचित्रकूटभौमस्वर्गतातन्वीकरणचारुतरपथेन मेदपाटसमुद्रसंभवरोहिणीरमणेन अरिराजमत्तमातङ्गपञ्चाननेन प्ररूढपत्रयवनदवदहनदवानलेन प्रत्यर्थिपृथिवीपतितिमिरततिनिराकरणप्रौढप्रतापमार्तण्डेन वैरिवनितावैधव्यदीक्षादानदक्षोद्दण्डकोदण्डमण्डिताखण्डभुजादण्डेन भूमण्डलाखण्डलेन श्रीचित्रकूटविभुना अध्युष्टतमनरेश्वरेण गजनरतुरगाधीशराजत्रितयतोडरमल्लेन वेदमार्गस्थापनचतुराननेन याचककल्पनाकल्पतरुणा वसुन्धरोद्धरणादिवराहेण परमभागवतेन जगदीश्वरीचरणकिङ्करेण भवानीपतिप्रसादाप्ताप (? प्तप्र) सादवरप्रसादेन राजगुर्वादिविरुदावलीविराजमानेन राजाधिराजमहाराणा-श्रीमोकलेन्द्रनन्दनेन राजाधिराजश्रीकुम्भकर्णमहीमहेन्द्रेण विरचिते संगीतराजे षोडशसाहस्र्यां संगीतमीमांसायां रत्नकोशे करणोल्लासे रेचकपरीक्षणं चतुर्थं समाप्तम् ॥

॥ उल्लासश्च समाप्तिं समगादिति विततमतीनामभिमतसिद्धिरस्तु ॥[1]

[1 ० यश्शौर्यवीर्यगांभीर्यैं न(?र्न) केनाप्यतिरिच्यते ।
तेन श्रीकालसेनेन कृतं रेचकलक्षणम् ॥

इति श्रीजगदीशवनदेवनिजगणेन ॥ १ ॥ जगदीश्वरी-कामेश्वरीचरणकिङ्करेण ॥ २ ॥ श्रीब्रह्माद्रिविभुना ॥ ३ ॥ अध्युष्टतमनरेश्वरेण ॥ ४ ॥ श्रीभीष्मपुरजयानीतानेकराजकन्यारत्नेन ॥ ५ ॥ श्रीपुरग्रहणसंवर्द्धितयशोभरेण ॥ ६ ॥ वाटिकाचलग्रहणजनितकीर्त्तिपूरपराजिताचलनायकेन ॥ ७ ॥ संगमनीरदुर्गोद्धरणोद्धृतसकलमण्डलाधीश्वरेण ॥ ८ ॥ दमनपुरविध्वंसनवंदीकृतयवनीनिचयेन ॥ ९ ॥ महिषमेरुजयाजेयविभवेन ॥ १० ॥ शाकम्भरीरमणपरिशीलनपरिप्राप्तशाकम्भरीपरितोषितशाकम्भरीप्रमुखशक्तित्रयेण ॥ ११ ॥ अष्टादशगिरिविजयविख्यातवीर्यगर्वेण ॥ १२ ॥ महदंबमातृकापूरोद्धूलनधर्षिता-(? त) महोरगपुरेण ॥ १३ ॥ वनदेवस्वामिप्र(?प्रा)सादरचनापरपरमेश्वरेण ॥ १४ ॥ त्र्यंबकेश्वरसन्निधिकीर्त्तिस्तंभोन्नतजयस्तंभेन ॥ १५ ॥ श्रीब्रह्मगिरिभौमस्वर्गतायथार्थीकरणरचितचारुपथेन ॥ १६ ॥ श्रीकामक्षागिरिनवीननिर्मितिपराजितसुमेरुणा ॥ १७ ॥ श्रीमहिषाचलोपरिश्रीहरिशरणरचिताचलदुर्गेण ॥ १८ ॥ अभिनवभरताचार्येण ॥ १९ ॥ वीणावादनप्रवीणेन ॥ २० ॥ यवनकुलाकालकालरात्रिरूपेण ॥ २१ ॥ त्रिसंध्यक्षेत्रसमुद्र-

संभवरोहिणीरमणेन ॥ २२ ॥ परमभागवतेन ॥ २३ ॥ श्रीमहाराजाधिराजमहाराणा श्रीतामराजेन्द्रनन्दनेन ॥२४॥ महाराज्ञीश्रीसौभाग्यवतीजसमांविकाहृदयनन्दनेन ॥२५॥ सकलसीमंतिनीशिरोमणिनिकुंभराजन्यवंशावतंसमहाराज्ञीश्रीकर्मवतीलपुमादेवीहृदयाधिनाथेन ॥ २६ ॥ महाराजाधिराजकालसेनमहीन्द्रेण विरचिते सङ्गीतराजे षोडशसाहस्र्यां सङ्गीतमीमांसायां नृत्यरत्नकोशे करणोल्लासे रेचकपरीक्षणं चतुर्थं समाप्तम् ॥

॥ उल्लासश्च तृतीयः समाप्तिं समगादिति विततमतीनामभिमतसिद्धिरस्तु ॥]

चतुर्थोल्लासे प्रथमं परीक्षणम् ।

[1]ऋग्वेदादितनोर्यस्माद्भारत्या[2]द्यास्तु वृत्तयः ।
जज्ञिरे तमहं वन्दे वाचो[3]वृत्तिप्रकाशकम्[4] ॥ १
वृत्तयश्च कलासाश्चोपाध्यायाचार्यलक्षणम् ।
[5]नटनर्तकयोर्वैतालिकचारणलक्षणम् ॥ २
परीक्षणे वार्तिके[6]षु क्रमादेतन्निरूप्यते ।
वृत्तीनां लक्षणं [7]पूर्वं सामान्येन प्रदर्शितम् ॥ ३
विशेषलक्षणं तासामथ ब्रूमः समासतः ।
एकार्णवे पुरा विश्वे शेषशायिनि माधवे ॥ ४
मद[8]वीर्यबलोन्मत्तावसुरौ मधुकैटभौ ।
बहुभिः परुषैर्वाक्यैर्जानुभिर्मुष्टिभिस्तथा ॥ ५
तर्जयामासतुर्देवं क्षोभयन्ताविवार्णवम् ।
तौ दृष्ट्वा द्रुहिणो भीतो[9] मुरारिं वाक्यमब्रवीत् ॥ ६

*

[भारती ।]

भारतीं[10] सृज देवेश नयेमौ निधनं यतः[11] ।
ततः शुद्धैरविकृतैः[12] साङ्गहारस्तदाङ्कैः ॥ ७
युयुधे भगवान् ताभ्यां युद्धमार्गविशारदः ।
पादन्यासैस्तदायत्तैरतिभारोऽभवद्भुवः[12] ॥ ८
तत्रेयं भारती वृत्तिर्निर्मिता लोकभाविना ।
तीव्रैर्दीप्तिकरैः शार्ङ्गधनुषो वलितैरथ ॥ ९

---

1 C ऋग्वेदितनो । 2 AB भारताद्या° । 3 C वाच्ये । 4 C °प्रकाशके । 5 C नटनर्तकयोश्चैव लक्ष्म वैतालीकस्य च । 6 AB केत्र कस्मादे° । 7 C पूर्वे । 8 C मदो° । 9 AB °तोसुरारि, C °तोऽसु° । 10 ABC °तीसृ° । 11 AB यत । 12 C drops from तैः to भुवः ।

सात्त्वती निर्मिता वृत्तिरिति सत्त्वैरसंभ्रमैः ।
लीलाभावैरङ्गहारैर्विचित्रैः सुकुमारकैः ॥ १०
यद्बन्ध शिखापाशं तत्र जाता तु कैशिकी ।
विचित्रैर्युद्धकरणैर्नानाचारीसमुद्भवैः ॥ ११
संरम्भावेगबहुला संजाताऽऽरभटी तदा ।
एवं तदा हतौ दृष्ट्वा दानवौ द्रुहिणोऽब्रवीत् ॥ १२
न्यायसंज्ञा भविष्यन्ति शस्त्रमोक्षे सदा इमाः ।
ऋषिभिस्तास्तथा दृष्ट्वा कृताः पाठ्या(?ठ्या)भिसंयुताः ॥ १३
नाट्यवेदसमुत्पन्ना वागङ्गाभिनयात्मिकाः ।
भारत्या अभवन् भेदाश्चत्वारोऽङ्गत्वमागताः ॥ १४
प्ररोचनाऽऽमुखं चैव वीथी प्रहसनं तथा ।
तत्र प्ररोचना पूर्वरङ्गे पापप्रनाशिनी ॥ १५
जयाभ्युदयमाङ्गल्या विघ्नप्रध्वंसकारिणी ।

॥ इति प्ररोचना ॥ १ ॥

*

प[ा]रिपार्श्वादिका यत्र सूत्रधारेण कुर्वते ॥ १६
[1]आमुखं तत्र विज्ञेयं बुधैः प्रस्तावनाभिधम् ।
उद्धाटकः कथोद्धातः प्रयोगातिशयस्तथा ॥ १७
प्रवृत्तिकावगलि(?लगि)ते आमुखाङ्गानि पञ्च वै ।

॥ इत्यामुखम् ॥ २ ॥

*

वीथी प्रहसनं चैव दशरूपकगोचरे ॥ १८

॥ इति वीथीप्रहसने ॥ ३ ॥

॥ इति भारती[2] ॥

*

[सात्त्वती ।]

तत्र सत्त्वगुणोत्कर्षा हर्षशौर्यगुणोत्तराः ।
त्यागशौर्यविशोकाढ्या वृत्तिः स्यात् सात्त्वती शुभा ॥ १९
उत्थापकपरिवर्तकसंलापसंघात्यनामधेयाश्च ।
चत्वारः स्युर्भेदाः सात्त्वत्या मुनिवरेणोक्ताः ॥ २०
उत्थापनस्तु संहर्षो,

॥ इत्युत्थापकः ॥ १ ॥

*

1 A line seems to be missing here or the reading may be: **संलापमामुखं ज्ञेयं ।** cf. ना. शा. अ. २०. श्लो. ३०–३३. (G. O. S.). 2 ABC put the verse after **इति भारती.**

अन्ययोगः परिवर्तिकः ।
आरब्धार्थपरित्यागात्,

॥ इति परिवर्तकः ॥ २ ॥

*

संलापः प्रोच्यतेऽधुना ॥ २१
साधिक्षेपवचोभङ्गी,

॥ इति संलापकः ॥ ३ ॥

*

स तु संघात्यको मतः ।
आत्मनो दोषयोगाद्यैः संघाते भेदकृद्वचः ॥ २२

॥ इति संघात्यकः ॥ ४ ॥

॥ इति सात्त्वती ॥

*

[कैशिकी ।]

कामोपभोगप्रचुरा श्लक्ष्णनेपथ्यशालिनी ।
विचित्रनृत्यगीताद्या कैशिकी वृत्तिरिष्यते ॥ २३
नर्मस्फोटो नर्मगर्भो नर्मस्पुञ्जोऽथ नर्म च ।
कैशिकीसंभवा भेदाश्चत्वारः परिकीर्तिताः ॥ २४
नानाभावरसैर्युक्तः समग्ररसपेशलः ।
[1]नर्मस्फोटश्च विज्ञेयो विशेषबहुताकुलः ॥ २५

॥ इति नर्मस्फोटः ॥ १ ॥

*

नायको यत्र कार्यार्थवशाद्गुप्तैर्गुणैरिह ।
नर्मगर्भो भवेदेष रूपसंभावनादिभिः ॥ २६

॥ इति नर्मगर्भः ॥ २ ॥

*

नवसंगमसंभोगरतिरागसमुद्भवैः ।
नर्मस्पुञ्जो भवेदत्रावसानभयसंमुखः ॥ २७

॥ इति नर्मस्पुञ्जः ॥ ३ ॥

*

शृङ्गारास्थापकं हास्यं बहुलं करुणाश्रितम् ।
आत्मोपक्षेपकं नर्म विप्रलम्भरसोज्ज्वलम् ॥ २८

॥ इति नर्म ॥ ४ ॥

॥ इति कैशिकी ॥

*

1 ABC मर्म° ।

[आरभटी ।]

मायेन्द्रजालबहुला चित्रयुद्धनियन्त्रिता ।
विज्ञेयाऽऽरभटी वृत्तिः कपटैर्बहुभिर्वृ(?वृं)ता ॥ २९

वस्तूत्थापनसंफेटौ संक्षिप्तकावपातकौ ।
एते भेदास्तु चत्वार आरभट्याः प्रकीर्तिताः ॥ ३०

कार्यं विभाव्यते यत्र सविद्रवमविद्रवम् ।
अनेकरससंयुक्तं तद्वस्तूत्थापनं मतम् ॥ ३१

॥ इति वस्तूत्थापनम् ॥ १ ॥

*

शस्त्रप्रहारबहुलो युद्धसंरम्भसंकुलः ।
संफेटो नाम विज्ञेयो निर्भेदकपटाकुलः ॥ ३२

॥ इति संफेटकः ॥ २ ॥

*

अन्वर्थक(?शि)ल्पसंयुक्तो बहुसुस्तपवोयु(?पुस्तोपयोग)तः ।
संक्षिप्तवस्तुविषयो ज्ञेयः संक्षिप्तको बुधैः ॥ ३३

॥ इति संक्षिप्तः ॥ ३ ॥

*

भयहर्षसमुत्थानां[1] विनिपातससंभ्रमः ।
प्रवेशनिर्गमाद्युक्तः सोऽवपात इति स्मृतः ॥ ३४

॥ इत्यवपातः ॥ ४ ॥

॥ इत्यारभटी ॥

*

एताः प्रोक्ताश्चतस्रस्तु वृत्तयः काव्यसंश्रयाः ।
युद्धे नियु(ब?)द्धे काव्ये ता उपयोगं व्रजन्ति वै ॥ ३५

वृत्तिर्वापि रसो वापि भावो वापि प्रयोगतः ।
पुष्पावकीर्णाः कर्तव्याश्चित्रमाल्यानुकारिणः[2] ॥ ३६

॥ इति चतस्रो वृत्तयः ॥

*

[अथ कलासा लक्ष्यन्ते ।]

यद्यपि भेदा लोके भूयांसः करणमार्गगास्तदपि ।
तानिह विमुच्य यत्नात् कलासकरणानि वक्ष्यन्ते ॥ ३७

विद्युत्खड्गौ मृगबल(?क)संज्ञौ प्लवसंज्ञमपरमपि द्वितयम् ।
एते हि षट् प्रभेदाः पृथग्विभिन्नाः कलासकरणस्य ॥ ३८

---

1 नाशा° समुत्थानं (अ. २०, श्लो. ६९. G. O. S.) 2 ABO कारिणैः ।

विद्युत्खड्गौ द्रुततो गुरुणा द्वौ मृगबकौ च मण्डूकः ।
लघुना द्रुतेन हंसः परिसीयन्ते क्रमात् षडमी ॥ ३९
विद्युत्कलास इष्टः षोढा खड्गश्चतुर्विधः कृतिभिः ।
एको मृगककलासो बकसंज्ञः स्याच्चतुर्धाऽत्र ॥ ४०
दर्दुरकोऽपि चतुर्धा हंसकलासस्तु त्रिधा ज्ञेयः ।
एवं द्वाविंशतिधा कलासभेदाः समासेन ॥ ४१

*

[विद्युत्कलासाः ।]

वर्षासु जलदराजिषु सचमत्कारं यथाऽचिरविलासा ।
विलसति तथा पताकप्रमुखाः द्रुतमानतस्तिर्यक् ॥ ४२
यस्मिन्नूर्ध्वमधोऽधः प्रकाशमायान्ति हस्तकाः सततम् ।
विद्युदिव चञ्चलस्तं वदन्ति विद्युत्कलासमिह ॥ ४३
पताकं वामहस्तं तु नत्वा दक्षिणकर्णगम् ।
दक्षं पुनः कटीं वामां वामजङ्घां तथाविधम् ॥ ४४
एतद्विपर्ययाद्धस्तद्वन्द्वं कृत्वा ततो नु च ।
मुखसन्मुखमानेयमित्याद्यो भेद इष्यते ॥ ४५

॥ इति प्रथमः ॥ १ ॥

*

अर्धचन्द्रं करं कृत्वा दक्षिणं तं स्वसंमुखम् ।
आनीय कार्मुकाकारं जानु कुर्याद् द्वितीयके ॥ ४६

॥ इति द्वितीयः ॥ २ ॥

*

अञ्जलिं हस्तमाधाय समदृष्टिस्तदङ्गुली ।
प्रसार्य शिखरं कृत्वाऽग्रे भुजौ सारयेत्परे ॥ ४७

॥ इति तृतीयः ॥ ३ ॥

*

केशबन्धौ करौ कृत्वाऽलिके सव्येतरं करम् ।
वामं कृत्वा मूर्ध्नि कुर्यात् पताकौ च चतुर्थके ॥ ४८

॥ इति चतुर्थकः ॥ ४ ॥

*

हस्तं पुष्पपुटं कृत्वा विलोक्य च ततः पुनः ।
कृत्वोत्सङ्गं स्पृशेत् पश्चाद् दक्षिणं चरणं नटः ॥ ४९
हस्तेन दक्षिणेन प्राग्वामाङ्घ्रिं वामकेन तु ।
इति पञ्चमभेदोऽयं सम्यगत्र प्रदर्शितः ॥ ५०

॥ इति पञ्चमः ॥ ५ ॥

*

अधो मकरमाधाय हस्ताभ्यां यत्र नृत्यति ।
सप्लुतैश्चरणन्यासैर्भेदः षष्ठोऽयमीरितः ॥ ५१

॥ इति षष्ठः ॥ ६ ॥

॥ इति विद्युद्धि(?त् क)लासस्य षड्भेदाः ॥

*

[खड्गकलासाः ।]

चकितेव निरीक्षन्ती पश्चाद्वामेतरं मुहुः ।
प्रचारं धृतखड्गे[1]व तन्वन्ती विविधं द्रुतम् ॥ ५२
प्लुतमानादसंबाधं विदधाति करानपि ।
यत्रार्धचन्द्रप्रभृतीन् स खड्गा[2]द्यः कलासकः ।
कट्यां वामं विधायाथ सखड्गं[3] दक्षिणं करम् ॥ ५३

[॥ १ ॥]

*

कृत्वार्धचन्द्रमास्ते चेत् सकम्पं भेद आदिमः ।
ऊर्ध्वं कपोतमाधायाधस्तान्मुष्टिकरं तथा ।
पताकं तिर्यगाधाय ततः खड्गं[4] भिदाऽपरा ॥ ५४

[॥ २ ॥]

*

त्रिपताकौ करौ कृत्वा पश्च(?श्चाद्) यश्चरणः स तम् ।
घातयन्निव योऽग्रे चेद् योजयेदिति तत्परः ॥ ५५

[॥ ३ ॥]

*

स्वस्तिकं कर्कटं चैव मुष्टिकं च पताककम् ।
चतुरः क्रमतः कुर्यात् करान् यत्र तु नर्तकी ।
धृतौ मोहे तथा घाते पाते स स्याच्चतुर्थकः ॥ ५६

[॥ ४ ॥]

*

घातस्तत्र चतुर्धा स्यादूर्ध्वाधः पार्श्वयोर्द्वयोः ।
खड्गपूर्वकलासस्य भेदा एते चतुर्विधाः ॥ ५७

॥ इति खड्गकलासचतुष्टयम् ॥

*

[मृगकलासः ।]

पादाङ्गुलीभिराक्रम्य भूमिमुत्थाय जानुनी ।
मुहुरापातयेद्यत्र मृगशीर्षकराश्चिता ॥ ५८

---

1 ABC षड्जे । 2 ABC षड्गा । 3 ABC खड्ग । 4 ABC खड्गा ।

गर्भखिन्ना मृगीवेयं लास्याङ्गैर्नृत्यतत्परा ।
हरिणप्लुतया चार्या गुरुमानेन चेत्ततः ।
त्रिविधां प्लुतिमाधत्ते तदा मृगवि(?क)लासकः ॥ ५९
॥ इति मृगवि(?क)लासः ॥

*

[बककलासाः ।]

पार्श्वे विधुन्वती यत्र बकवत् सजलौ छदौ ।
कुर्वती हस्तकाँश्चैव संदंशमुकुलादिकान् ॥ ६०
आसनं च यथोत्थानं गुरुमानेन तन्वती ।
नरीनर्त्ति नटी यत्रानल्परूपविशेषवत् ॥ ६१
कलासो बकसंज्ञोऽयं विज्ञेयो नृत्यकोविदैः ।
विधाय भ्रमरीं काश्चित् संहतस्थानके स्थिता ॥ ६२
अलपल्लवसंज्ञौ च कृत्वारालौ करौ क्रमात् ।
यत्राङ्गी तत्र तौ नीत्वा युगपत् क्रमतोऽपि वा ॥ ६३
अङ्गं विधुन्वती चित्रं सवारि[1](?संचारि)गरुताविव ।
मत्स्यग्रहार्थं बकवत् कृत्वा मुकुलहस्तकम् ॥ ६४
मन्दं मन्दं पुरस्ताच्च पश्चाच्च प्रपदेन या ।
याति यस्मिन् कलासे सा विज्ञेया प्रथमा भिदा ॥ ६५
[॥ १ ॥]

*

त्रिपताकौ करौ कृत्वा विषमासनमास्थिता ।
मण्डिकौ चरणौ कृत्वा यथास्वं च पदे पदे ॥ ६६
नयन्ती हस्तकौ चित्रं संदंशमथ तन्वती ।
पश्यन्ती पार्श्वयोरग्रे चकितेव यदा नटी ।
कुरुते नृत्यमेषाऽसौ बकभेदो द्वितीयकः ॥ ६७
[॥ २ ॥]

*

सव्ये तदितरे भागे वामे वामेतरं यदि ।
आपातयेद् द्रुतं जानु सवेगं चरणौ भुवि ॥ ६८
निदधाति तदा प्रोक्ता मण्डिका नृत्यकोविदैः ।
मुकुलं हस्तकं कृत्वा शनैः पश्चाद् द्रुतं पुरः ॥ ६९
गच्छन्ती प्रस्खलन्त्येव पचत्यनु(?पतत्यनु)पदं यथा ।

---

1 ० संसवा° ।

धूतमुक्ते बको मत्स्येऽनुपदं हस्तकानपि ॥ ७०
अलपद्ममरालं च मुकुलं चापि तन्वती ।
चित्रं नृत्यति यत्रैषा भेदः प्रोक्तस्तृतीयकः ॥ ७१

[॥ ३ ॥]

*

उत्तानवञ्चितौ हस्तौ यथा कृत्वार्द्धचन्द्रकम् ।
कट्यां निवेश्य हस्तं च प्रपदाभ्यामथारभेत् ॥ ७२
नानागतिविशेषांश्च धनुर्वत् पृष्ठतः पुरः ।
वक्राकृतिः पदाङ्गुष्ठपाणिसंस्पर्शलालसा ।
प्रनृत्यति यदा चित्रं भेदः प्रोक्तश्चतुर्थकः ॥ ७३

[॥ ४ ॥]

॥ इति वककलासचतुष्टयम् ॥

*

[मण्डूककलासाः ।]

त्रिपताकं करं कृत्वोत्प्लुत्योत्प्लुत्य समे पदे ।
सर्वतो दधती चित्रं विषमासनमास्थिता ॥ ७४
यत्र नृत्यति स प्रोक्तः कलासः प्लवसंज्ञकः ।
त्रिपताकौ पताकौ वा नाभौ कृत्वा करौ ततः ॥ ७५
प्रयाति पद्भ्यां पश्चाच्चेत्तालस्यानुगुणं यदा ।
तदायमाद्यभेदः स्यात्प्लवस्य मुनिसंमतः ॥ ७६

[॥ १ ॥]

*

त्रिपताकौ करौ कृत्वा वामपादं पुरःसरम् ।
हस्तं च वाममेवं स्याल्लघुमानेन वामतः ॥ ७७
गत्वा तत्रासनं कृत्वा समं विषममेव वा ।
ततः स्थानात् समुत्प्लुत्य गच्छेच्चेत्तुल्यपादिकाम् ।
मण्डूकस्य द्वितीयोऽयं भेदः प्रोक्तस्तदा बुधैः ॥ ७८

[॥ २ ॥]

*

त्रिपताकौ करौ कृत्वा समं वा विषमासनम् ।
स्थित्वा स्थित्वा समुत्प्लुत्य चरणौ दधती क्षितौ ॥ ७९
पुरो गच्छति पश्चाच्च लघुमानेन चेत्तदा ।
पश्यन्ती धरणीं प्रोक्तः प्लवभेदस्तृतीयकः ॥ ८०

[॥ ३ ॥]

*

पुरतः पृष्ठतश्चैव व्युत्क्रमक्रमयोगतः ।
वामदक्षिणयोर्नृत्यं चतुर्धा यत्र जायते ।
मण्डूकस्य तदा भेदश्चतुर्थः कीर्तितो बुधैः ॥ ८१
[॥ ४ ॥]
॥ इति मंडूककलासभेदचतुष्टयम् ॥

*

[हंसकलासाः ।]

ललितैश्चरणन्यासैर्यत्र हंसीव हस्तकौ ।
हंसास्यौ संविधायाथ विचित्रगतिपेशलम् ॥ ८२
यत्र नृत्यति स प्रोक्तः कलासो हंससंज्ञकः ।
मकरं दक्षपार्श्वस्थं पताकं वामहस्तकम् ।
पुरतो यत्र हंसीव यायाद्भेदः स आदिमः ॥ ८३
[॥ १ ॥]

*

मुकुलं हस्तमारभ्य पादाभ्यां पृष्ठतो व्रजेत् ।
विचित्रलास्यभेदज्ञा हंसीवासौ द्वितीयकः ॥ ८४
[॥ २ ॥]

*

हस्तं हंसास्यमाधाय पार्श्वयोर्ललितां गतिम् ।
आलापवर्णतालानां क्रमतो यत्र नृत्यति ।
हंसीवासौ तृतीयोऽयं भेदः प्रोक्तः पुरातनैः ॥ ८५
[॥ ३ ॥]
॥ इति हंसकलासत्रयम् ॥
॥ इति द्वाविंशतिकलासकरणानि ॥

*

[उपाध्यायलक्षणम् ।]

अथोपाध्यायलक्षणम्–

रूपस्वी निजसंप्रदायधिषणो मोक्षग्रहज्ञः क्षमी[1]
मेधावान् ध्वनितत्त्ववित्सुनिपुणस्ताले लये कोविदः ।
शिष्यं शिक्षयितुं नवीनरचनावाद्यप्रबन्धे सुधीः
उद्धर्त्ताऽखिलनृत्यभङ्गिभणितेर्नाट्यागमे पारगः ॥ १
स्थायानामधिकोनतासुकुशलो माधुर्यवित्सुध्वने[2]-
र्वाद्येऽथो मुखवाद्यजे निपुणधीः स्यान्नृत्यगीतादिनः ।

1 BC क्षमें । 2 ABC सुध्वेने. Kumbha in भ० को. सुध्वने पृ. ८०६.

साक्षात् स्थापयिता स्थितौ जनमनोहारी स्वयं रञ्जकः
पात्रस्यापि हृदेव रूपकविधौ निर्माणकर्माङ्कुरः ॥ २
[1]नृत्यस्याखिलनृ(?कृ)त्यवित् सममुखप्रा(? स्था)यग्रहज्ञाग्रणी-
र्दोषाणामपिधानवित् स्वयमसौ स्यान्नृत्यगीतादिनः ।
प्राप्तप्रौढिसुशस्तवाक्यविदुरो धीरो गुणोल्लासको
नाट्ये शुद्धगुणा[2]र्णवो निगदितस्तज्ज्ञैरुपाध्यायकः ॥ ३

॥ इत्युपाध्यायलक्षणम् ॥

*

[आचार्यः ।]

आचार्यः श्रुतिकोविदः पटुमतिर्वाक्ये सुवेषो रसे
ज्ञाता लक्षणलक्ष्यतत्त्वविषये पू(?तू)र्यत्रये पण्डितः ।
हास्यज्ञो नृपसंसदि प्रगुणधीरास्योद्भवे वादने
नानादेशविचित्रकाकुरचनाप्रावीण्यविद्याध्वगः ॥ ४

॥ इत्याचार्यः ॥

*

[नटः ।]

प्रोक्तश्चात्र नटो नवीनरचने भाषादिनस्तत्त्ववित्
चित्तज्ञश्च चतुर्विधाभिनयविज्ञाट्यागमे पारगः ।

॥ इति नटः ॥

*

[नर्तकः ।]

संप्रोक्तोऽपि च नर्तको निशितधीर्मार्गाख्यनृत्ये परं
विख्यातोऽत्र कृतश्रमोऽङ्गचलने दक्षः स्वकीये स्मृतः ॥ ५

॥ इति नर्तकः ॥

*

[वैतालिकः ।]

मर्मज्ञोऽखिलरागराजिषु परं वेदी[3] पुनः किङ्किणी-
वाद्ये चापि वृतोऽत्र नर्तकगणैर्दक्षो मतश्चारणः ।
भाषाशेषविशेषवित्पटुमतिर्लोकापवादे नृणाम्
सर्वेषामपि नर्मशर्मकरणे दक्षोऽत्र वैतालिकः ॥ ६

॥ इति वैतालिकः ॥

*

1 ABC °त्यसा° । 2 ABC °गुणेर्णव° । 3 ABC चेही. Kumbha in भ. को. वेदी पृ. ९४७.

यद्वृत्तिं भुञ्जते विप्राश्चतुर्दिक्षु गृहे स्थिताः ।
आचार्यश्च स्वयं योऽरिविनयाचारशिक्षणे ॥ ७

इति श्रीराजाधिराजश्रीकुम्भकर्णमहीमहेन्द्रेण विरचिते सङ्गीतराजे नृत्यरत्नकोशे प्रकीर्णकोल्लासे वृत्त्यादिलक्षणं नाम प्रथमं परीक्षणं [समाप्तम् ।]

चतुर्थोल्लासे द्वितीयं परीक्षणम् ।

[मङ्गलम् ।]

यं न्यायप्रविचारेणोपपत्त्यागमगोचरम् ।
अक्षपादादयो नित्यं मन्वते तं नुमः शिवम् ॥ १

अथ न्यायाः–

संगरेषु परशस्त्रवञ्चनं स्वीयशस्त्रपरितापनं रिपौ ।
संविधातुमुचिता शरीरजा न्यायशब्दगणनात्र वर्तना ॥ २
भारतः स खलु सात्त्वतो परो वार्षगण्य इह कैशिकस्तथा ।
तद्विदास्तु किल वेदसंमिता वृत्तिषु क्रमतया निदर्शिताः ॥ ३
तस्य लक्षणविचारशुद्धये ब्रूमहेऽत्र सकलान् प्रविचारान् ।
चारिकानिगदितास्तु विचित्रा याः पुरा च गतयः परिक्रमाः ॥ ४
भारते निगदिताः प्रविचाराः शस्त्रमोक्षणविधानगोचराः ।
वामकेन बिभृयात् फलकान्तं दक्षिणेन तु कृपाणमादरात् ॥ ५
तौ करावुपसृतौ विनिधायाक्षिप्य तौ च तत एव शिक्षितः ।
भ्रामणं च फलकस्य विदध्यात्तूभयोरथ सपार्श्वयोः सुधीः ॥ ६
भ्रामयेच्च परितः शिरसस्तत् खड्गिनं त्वथ शिरःकपोलयोः
अन्तरा च मणिबन्धतस्तथोद्वेष्टयेच्च विधिना प्रयत्नवान् ॥ ७
भ्रामणं च फलकस्य विदध्यात् संभ्रमेदुपरि मस्तकं यथा ।
भारते विधिरयं मुहुर्मुहुः शस्त्रपात उचितः कटीतटे ॥ ८

॥ इति भारतः ॥ [१ ॥]

*

सात्त्वतेऽपि विधिरेष[1] शस्यते पृष्ठतो भ्रमणमत्र शस्त्रगम् ।
शस्त्रपातविधिरत्र पादयोः कीर्तितो भरतमुख्यसूरिभिः ॥ ९

॥ इति सात्त्वतः[2] ॥ [२ ॥]

*

---

1 ABC विधेरेष । 2 ABC सात्त्वितः ।

वार्षगण्यविषयोऽपि दृश्यतेऽप्येवमेव फलकस्य संभ्रमः ।
पृष्ठतो निगदितस्त्विहाधिकः स्कन्धदेश अथ वक्षसि स्फुटम् ॥ १०
शस्त्रहस्तविषयं तथा किलोद्धेष्टनं निगदितं तथा पुनः ।
हृत्प्रदेशविषयं च तद्विदा शस्त्रपातनमिहोदरीकृतम् ॥ ११

॥ इति वार्षगण्यः ॥ [३ ॥]

*

भारतेन गदितस्तु कैशिकः शस्त्रपातनविधिस्तु मूर्द्धनि ।

॥ इति कैशिकः ॥ [४ ॥]

*

सौष्ठवान्विततनुःसुशिक्षितो न्यायवर्गमसुमाश्रितो नटः ॥ १२
शक्तितोमरशरासनादिकान्यायुधान्यपि समाचरेत् सुखम् ।
सौष्ठवं वरमुशन्ति तद्विदो येन तेन हि विना कृताः परम् ॥ १३
युद्धकर्मणि च नर्त्तनेऽपि वा नैव भान्ति निखिलाः प्रविचाराः ।
न प्रहारविधिरत्र वास्तवः संज्ञयैव निखिलो विधीयते ॥ १४
तं प्रहारमथवात्र दर्श[ये]दैन्द्रजालिकमथात्र मायया ।
एते न्यायाः प्रयोक्तव्याश्चारीभिः शस्त्रमोक्षणे ॥ १५

॥ इति न्यायलक्षणम् ॥

*

[पेरणीलक्षणम् ।]

श्वेतचन्दनकर्पूरभस्माद्यक्तकलेवरः ।
शिखावान् मुण्डितशिरा लसत्पुष्पावतंसकः ॥ १६
क्वणद्घर्घरिकाजालजङ्घाजङ्घालविभ्रमः ।
लयतालकलाभिज्ञः पञ्चाङ्गज्ञानपण्डितः ॥ १७
जितश्रमोऽ[1]श्लथश्लिष्टसंधिस्ताण्डवपण्डितः ।
दक्षः कलासु सर्वासु सभाजनमनोहरः ॥ १८
सुरेखो नृत्यशास्त्रज्ञश्चण्डः शारीरपेशलः ।
सभावरससंयुक्तं यो नृत्यते(?ति) स पेरणी ॥ १९

*

घर्घरो विषमं गीतं कविचारस्तथैव च ।
भावाश्रयश्च व्याचष्ट पञ्चाङ्गानि नृपोत्तमः ॥ २०
तत्र घर्घरिका वाद्ये वहनिर्घर्घरो मतः ।
तस्य भेदाः षडेवात्र पडिवाडस्तदादिमः ॥ २१

---

1 ABC जिताश्रमो ।

ततश्चापडपश्चैव शिरिपिट्यपि संज्ञितः ।
ततश्चालगपाटः स्यात्ततः शिरिहिराह्वयः ॥ २२
ततः खुलहल(?लुहुलु)श्चेति तल्लक्ष्म व्याहरेऽधुना ।

*

प्रपदेन भुवि स्थित्वा पार्ष्ण्या पार्ष्णिद्वयेन वा ॥ २३
क्रमेण कुट्टनं भूमेः पडिवाड इति स्मृतः ।

॥ इति पडिवाडः ॥ १ ॥

*

भूमेर्निकुट्टनं पादतलाच्चापडपो भवेत् ॥ २४

॥ इति चापड[प]ः ॥ २ ॥

*

भूलग्नतलपादस्य सरणं यत्पुरो भवेत् ।
तथापसरणं पश्चान्मुहुः शिरिपिटी भवेत् ॥ २५

॥ इति शिरिपिटी ॥ ३ ॥

*

क्रमेण पादयोर्यौ‍ऽघ्रि कोमलं यत् प्रकम्पने ।
स ह्यलगवाडः(?पाटः)स्यादित्युक्तं नृत्यकोविदैः ॥ २६

॥ इत्यलगवाडः (? पाटः) ॥ ४ ॥

*

विधायैकं समं पादमङ्घ्रिरन्यः पुरो यदि ।
प्राहुः शिरिहिरं धीरास्तदा केचन तद्विदः ॥ २७

॥ इति शिरिहिरम् ॥ ५ ॥

*

प्रपदस्थितवामाङ्घ्रेः पार्ष्ण्योर्यत् कुट्टनं भुवः ।
तद्वत् स्थितस्य चान्यस्य भ्रमः सव्यापसव्यतः ॥ २८
योऽसौ खुलुहुलुः प्रोक्तो घर्घरो नृत्यकोविदैः ।

॥ इति खुलुहुलुः ॥ ६ ॥

*

सरतो युगपद्यत्र प्रपे(?प)दे स तु रुन्धकः ॥ २९

॥ इति रुन्धकः ॥ ७ ॥

*

इत्यादयः प(?प्र)धानेन घर्घराः शोभयान्विताः ।
तालानुगामिनस्तूह्याः सर्व एव विपश्चिता ॥ ३०
सूची च नागबन्धश्च मुखबन्धोऽम्बुजासनम् ।
स(?उ)न्मुखावाङ्मुखी चैव पुनश्चैव हि सन्मुखी ॥ ३१

पादास्फाली विलम्बी च हृदिगा जानुगा तथा ।
चिरं विलोकितव्येति कला द्वादश कीर्तिताः ॥ ३२
चित्रका पञ्चकारूढेत्येवं रेखा त्रिधोदिता ।
सर्वगात्रेषु शिथिलो यदा नृत्यति केवलम् ।
चक्षुषा श्लाघ्यते वाद्यं(?) रेखा स्याच्चित्रिका तदा ॥ ३३

॥ इति चित्रका ॥

*

घर्घरो मुद्रितं चैव बहुधा चाङ्गचालनम् ।
प्रचुरा हस्तचालिश्चेद्रेखेयं पञ्चका मता ॥ ३४

॥ इति पञ्चका ॥

*

गीताक्षरक्रमाद्वाद्यं तालमानेन वादयेत् ।
घर्घरा गृह्यते सर्वा रूढा रेखा तु सा मता ॥ ३५

॥ इति रूढा ॥

*

स्यादत्रोत्प्लुतिपूर्वं यत्करणं विषमं हि तत् ।

॥ इति विषमम् ॥

*

गीतं सालगमत्र स्याद्यदुक्तं गोण्डलीविधौ ॥ ३६

॥ इति गीतम् ॥

*

नायको वर्ण्यते यत्रोत्तमः स कविचारकः ।

॥ इति कविचारकः ॥

*

भावाश्रयो बुधैर्ज्ञेयो विकृतार्थानुकारवान् ॥ ३७

॥ इति भावाश्रयः ॥

॥ इति पेरणीलक्षणम् ॥

*

अथ पेरणितः सम्यग् वक्ष्ये पद्धतिलक्षणम् ।
संप्रदायविदो रङ्गभूमिदेशमुपागताः ॥ ३८
गोण्डलीविधिवच्चात्र कुर्युर्धिधिधिधीतितैः ।
गम्भीरध्वनिमातोद्यवादनं मिलिताश्च ते ॥ ३९
ततो विलम्बितलयं रिगोण्युटवणाश्रयम् ।
पादत्रयं वादयेयुर्द्विर्द्विनिःसारुतालतः ॥ ४०
ततो विकृतवाग्वेषभूषो रङ्गभुवं विशेत् ।
बोडकः प्राज्यहास्यैकरसस्तस्मिन् प्रनृत्यति ॥ ४१

रिगोण्युपशमेनाथ प्रनृत्यन् पेरणी विशेत् ।
ततः शान्तेषु वाद्येषु सहतालधरैः परम् ॥ ४२
गारुक्कौ वाद्यमानेऽथ ताले निपुणवादके ।
यद्वा सरस्वतीकण्ठाभरणे मर्दलादिनः ॥ ४३
मनोहरे तालरसे(?रसे ताले) ध्वनौ च व्याप्तिमृच्छति ।
पेरणी प्रारभेणा(?ता)थ [1]घर्घरान् पूर्वसूचितान् ॥ ४४
ततो निबद्धे कविते कूदे वर्णसरेण वा ।
निःसारुणा च तालेन विषमं नृत्यमाचरेत् ॥ ४५
नृत्यन् सालगसूडेन रेखां च स्थापनं तथा ।
हुद्यां च वहनीं गीतनर्तनं दर्शयेत् क्रमात् ॥ ४६
विषमं च प्रहरणानुगमाभोगवादने ।
कविचारान् प्रकुरुते तथा भावाश्रयानपि ।
लोकमार्गानुसारेण ततोऽन्यानपि दर्शयेत् ॥ ४७

॥ इति पेरणीपद्धतिः ॥

*

वाद्येषु वाद्यमानेषु करणैरश्चितादिभिः ।
दुष्करैः शस्त्रधाराथ(?प)वञ्चनैर्भ्रमणैरपि ॥ ४८
प्रांशुवंशोपरिगतैर्वरत्राचित्रचंक्रमैः ।
उच्चैः पक्षिवदुड्डीनैर्मृदङ्गपरिवर्त्तनैः ॥ ४९
नर्त्तनैर्विषमैरेवमादिकैर्नृत्यमाचरन् ।
शस्त्रसंकटसंपाते छुरिकानर्तनादिषु ॥ ५०
भ्रमर्यादिषु च प्रौढो रज्जुसञ्चारचञ्चुकः ।
भारस्य भूयसो वोढा बुधैः कोल्हाटिकः स्मृतः ॥ ५१

॥ इति कोल्हाटिकः ॥

*

पेरणीव नटो नारी नर्त्तयन्नर्त्तकोऽपि च ।
कोल्हाटिकः[2] प्लुतिं कुर्वन् यद्वैरी स्यात्पलायनात् ॥ ५२

इति श्रीराजाधिराजश्रीकुम्भकर्णविरचिते सङ्गीतराजे नृत्यरत्नकोशे प्रकीर्णकोल्लासे न्यायादिपरीक्षणं द्वितीयं [समाप्तम्]

—— ० ——

1 Kumbha in भ. को. पृ. ८९० पेरणी प्रारभेन्नाव्यं घर्घरान् पूर्वसूचितान् । ततो निबद्धे कविते गूढे वर्णसरेण वा ॥ 2 AB °ह्लां° ।

चतुर्थोल्लासे तृतीयं परीक्षणम् ।

येनाह्लादयितुं विश्वं ससुरासुरमानवम् ।
शिक्षिता पार्वती लास्यं तमानन्दघनं नुमः ॥ १

*

[अथ लास्याङ्गानि ।]

स्थितपाठ्यं द्विमूढाख्यं त्रिमूढं पुष्पमण्डिका ।
प्रच्छेदकः शेषपदमासीनं सैन्धवं तथा ॥ २
उक्तप्रत्युक्तकं तद्वदुत्तमोत्तमकं तथा ।
वैता(?भा)विकं च त्रिपदं लास्याङ्गानि दशाद्वयम् ॥ ३
विरहानलतप्ताङ्गीमदनोन्मीलनीकृता ।
पठेत् प्राकृतमासीना स्थितपाठ्यं तदीरितम्[1] ॥ ४

यथा–

[2]यं एसो विरहप्पहावजणिओ अग्गी तणुं तावए
जं पंकेरुहचंदचंदणरसा व(?वे)दंति नो शीयला ।
जं इण्हि मह मन्महेण हियय़ं मोहंदकूमेव(धकूवेठि?)दं
तं एदं सह वल्लहेण चरिदं संच्छा(ठा)णसंदंशितं ॥ ६

*

[3]मयणप्पहुकोवताविदाए मह सीदाइं(?भीदाए) कुरंगलोअणाए।
सहि वल्लहसंगवंचिदाए शरणं पुम्मदलाइं जीयसा(स्स) ॥ ७

*

[4]अंगाइं पुंखिदशिलीमुहजज्जराइं
जं निम्मियाइं मयणेण महाउहेण ।
एअस्स पावहियअस्स महप्पसाओ
घित्तूण दोसमलियं पय(?इ)णो गयासी ॥ ८

*

---

1 BO °दीरि यथा ।

2 य एष विरहप्रभावजनितोऽग्निस्तनुं तापयति
यत् पङ्केरुहचन्द्रचन्दनरसा वेदयन्ति नो शीतलाः ।
यदिदानीं मम मन्मथेन हृदयं मोहान्धकूपे स्थितं
तदेतत्सह वल्लभेन चरितं संस्थानसंदर्शितम् ॥

3 मदनप्रभुकोपतापितायाः मम भीतायाः कुरङ्गलोचनायाः ।
सखि वल्लभसङ्गवञ्चितायाः शरणं पद्मदलानि जीवस्य(?) ॥

4 अङ्गानि पुङ्खितशिलीमुखजर्जराणि
यन्निर्मितानि मदनेन महायुधेन ।
एतस्य पापहृदयस्य महाप्रसादः
गृहीत्वा दोषमलीकं पतेः गताऽऽसीत् ॥

[1]अंगाइ शुंखलिद कंपविमोहचिंता-
निद्दातणुत्तकुसुमाउहकंसिदाइ ।
एसा वि तत्थ रयणी शशिकालकूटं
दंसेइ किं सहि कुणेमि पिवप्पदा(वा?)से ॥ ९

*

[2]मोणं करिऊण मया
शहियण मज्झस्मि रक्खियो अप्पा ।
तहवि हले मह वयणे
मह[अ?]स्चरिओ पया(वे)सए दुअणो ॥ १०

॥ इति स्थितपाठ्यम् ॥ १ ॥

*

श्लिष्टभावपरं वाक्यं तथा युक्तपदक्रमम् ।
मुखप्रतिमुखोपेतं विचित्रार्थं द्विमूढकम् ॥ ११

यथा–

अङ्कुरितां मम हृदये प्रेमलतां रमणजलधरो मुदितः ।
सिञ्चति जीवनरचनैरिह वचनैरुन्नतिं नेतुम् ॥ १२
नीरक्षी[3]रितचुम्बितानि रचयन्नुत्तालचेतोभुवा,
दन्तग्राहमनिन्दिताधरपुटे दष्टो मया वल्लभः ।
ग्रामीणः परिहृत्य मामुपवने यातस्ततोऽनन्तरम्,
मातर्मूर्च्छति मीलति प्रचलति प्रोत्कम्पते मे मनः ॥ १३

॥ इति द्विमूढम् ॥ २ ॥

*

यद्वाक्यं नैकभावार्थं समवृत्तमलङ्कृतम् ।
ललिताक्षरबन्धं च त्रिमूढं तत् प्रकीर्त्तितम् ॥ १४

यथा–

भयहर्षरोषरोदनवदनसंभेदनानि कुर्वाणौ ।
स्मरसङ्गरसंगमिनौ जितमिति नौ मन्मथो हसति ॥ १५

---

1 अङ्गानि शृंखलितानि कम्पविमोहचिन्ता-
निद्रातनुत्वकुसुमायुधकर्षितानि ।
एषापि तत्र रजनी शशिकालकूटं
दंशयति किं सखि करोमि प्रियप्रवासे ॥

2 मौनं कृत्वा मया सखिजनमध्ये रक्षित आत्मा ।
तथापि हले मम वदने मधु[क]रचरितः प्रविशति दुर्जनः ॥

3 ABC °क्षिरित ।

कुचोन्नमनचातुरीचलितकञ्चुलीबन्धया,
कपोलपुलकावलीकलितयाऽऽयतापाङ्गया ।
विमोटनविवर्त्तने विदितसन्धया संगमे
त्वयाभि[1]लषिते कथं सुमुखि मानमालम्बते(?से) ॥ १६

॥ इति त्रिमूढम् ॥ ३ ॥

*

नर्त्तक्या विविधं यत्र गीतं वाद्यं च नर्त्तनम् ।
नमो(?मनो)वाक्कायचेष्टाभिर्हीनं स्यात् पुष्पमण्डिका ॥ १७

[॥ इति पुष्पमण्डिका ॥ ४ ॥]

*

चन्द्रिकातपसंतप्तास्त्यक्तलज्जाः सुलोचनाः ।
प्रियान् कृतापराधान् वै यान्ति प्रच्छेदकस्तु सः ॥ १८

यथा–

सखि स्फुरति यामिनी शशिनमुन्नमय्यांशुभिः
ज्वलद्भिरिव मामयं स्पृशति मानमुन्मूलयन् ।
अतो विगतलज्जया सुरतसंगरे सज्जया
ममापि विदितागसं प्रियमुपासितुं गम्यते ॥ १९
असौ हरिणलाञ्छनच्छलविकाशिहव्याशनो
वा(?व)नान्तरमिवान्तरं मम विलीलमां(नतामं ?)गति ।
अतोऽन्यवनितारतं रमणमप्रियेऽपि स्थितम्
व्रजामि सखि रोधिनीमपनयामि लज्जामपि ॥ २०

॥ इति प्रच्छेदकः ॥ ५ ॥

*

यत्रासने सुखासीनास्तन्त्र्याद्यातोद्यवादने ।
गायन्ति गायकाः स्वैरमाहुः शेषपदं हि तत् ॥ २१

॥ इति शेषपदम् ॥ ६ ॥

*

चिन्ताशोकाकुलत्वेन वाक्ये च (?चा)न्तिनयेऽपि च ।
विमूढाः खण्डिताः कान्तास्तदासीनमिहोच्यते ॥ २२

यथा–

प्रसरति दिनमणितेजसि विगलति तमसि प्रकाशिते नभसि ।
अपनीताधररागं पश्य वयस्य ममागते रमणम् ॥ २३

1 ABC त्वयभि॰ ।

ता(?भा)लेऽलक्तकमञ्जिताधरसुरः कर्पूरमुद्रं वहन्
निःशङ्कं पतिरभ्युपैति वियति प्रत्यग्रसूर्योदये ।
चिन्तासागरसंनिमग्नमनसा नीता मया यामिनी
किं कुर्वे सखि कैतवं कलयता मुग्धामुना वञ्चिता ॥ २४

॥ इत्यासीनम् ॥ ७ ॥

*

यत्र पाठ्यं विना नाठ्यं भाषा सैन्धवदेशजा ।
पात्रमुत्सस्मयं यत्र तत् सैन्धवमिहोदितम् ॥ २५

॥ इति सैन्धवम् ॥ ८ ॥

*

साधिक्षेपपदं यत्र स विचित्रार्थगीतकम् ।
प्रसादकं मर्षितस्येत्युक्तप्रत्युक्तकं मतम् ॥ २६

यथा–

प्राप्तो वसन्तसमयः समयानभिज्ञ
रोषं परित्यज भजस्व मयि प्रसादम् ।
उत्तुङ्गपीवरकुचद्वयभूरिभारा-
माराधितोऽपि न हि रक्षितुमीहसे माम् ॥ २७

उदेति हिमदीधितिर्वहति गन्धहारी हरि-
श्चरन् कुमुदकानने [स्म]रपयोनिधिर्वर्धते ।
इमं समयमुल्वणं परिकलय्य मां व्याकुलां
प्रसीद चरणानतां कठिन कातरां पालय ॥ २८

॥ इति उक्तप्रत्युक्तम् ॥ ९ ॥

*

यत्राभिनयबाहुल्यं नानाभावमनोहरम् ।
वाक्यं नैकरसं चित्रमुत्तमोत्तमके भवेत् ॥ २९

यथा–

सहर्षमवलोकनं विहितभीतमालिङ्गनं
सरोषमपि भाषणं सजललो[1]चनं रोदनम् ।
इति प्रथमसंगमे चतुर[2]चित्तचेतोहरो
विचित्ररससंकरो जयति कोऽपि वामभ्रुवः ॥ ३०

वेषे लेप्यनितम्बिनीमनुहरत्यम्भोजिनीं नेत्रयोः
भ्रूभङ्गे स्मरकार्मुकं कुचयुगे तत् कुम्भिकुम्भद्वयम् ।

---

1 ABC रोचनं । 2 ABC repeat चित्त ।

वाण्यामन्यभृतां तथा च धरणीं श्रोण्या[1]मियं भामिनी
सृष्टिर्मन्मथनिर्मिता रसमयी बाभाति[2] भूमण्डले ॥ ३१

॥ इति उत्तमोत्तमकम् ॥ १० ॥

*

कान्ते स्वप्नोपलब्धेऽपि यत्र कामवशं गता ।
विभावान् विविधान् यत्र कुर्याद्वैता(भा)विकं हि तत् ॥ ३२

यथा—

अद्याकर्णय नैशिकं सखि मया कान्तश्चिरं प्रोषितो
नेत्रा(?निद्रा)मुद्रितनेत्रयापि शयने साक्षादिवावेक्षितः ।
मायासङ्गमभङ्गभी[3]रुतरयेवोन्मज्ज्य लज्जाजलात्
कण्ठग्राहमनन्दितः परिवृतः प्रोल्लासितो मोदितः ॥ ३३
उचति(?उचित) माचरितं मम निद्रया शशिशरीरसमाहितमुद्रया ।
अथ सजातजनाकथितः[4] पतिः परपुरादपहृत्य समर्पितः ॥ ३४

॥ इति वैभाविकम् ॥ ११ ॥

*

आकारमपि[5] कान्तस्य पश्यन्ती कामपीडिता ।
यत्र खिद्यति दुश्चित्ता प्रिया चित्रपदं हि तत् ॥ ३५

यथा—

कान्तं चित्रपदे(?टे) विलिख्य विदधे यावत्तदालापनं
लब्धो जीवन वासरैः कतिपयैस्त्यक्ष्यामि न त्वामिति ।
तावन्मज्जन (? द) नल्पबाष्पसलिले संभिन्नभिन्नाक्षरम्
क्षे(?खे)दखेदकपाटकोटिघटितं कण्ठे विशीर्ष(?र्ण) वचः ॥३६
मया सखि विलोकितो रमणसन्निवेशं वहन्
इतो विषमसायकः क्वचन शिल्पिना कल्पितः ।
ततः स मयि रोषवानथ विभाव्यमानोऽथ वा
महेशाकृतिरीदृशी विरहितो(?ता) मोहिनी जृम्भते ॥ ३७

॥ इति चित्रपदम् ॥ १२ ॥

॥ इति द्वादशमार्गलास्याङ्गानि ॥

*

[देशी लास्याङ्गानि]

सौष्ठवं [6]स्थापना तालो लढिश्चालिश्चलाचलिः ।
सुकलासं थरहरं किंतूल्लासं उरोङ्गणम् ॥ ३८

1 AB श्रोण्यां । 2 AB भावाति । 3 ABC °भङ्गमभीरु° । 4 ABC अथ सज्जनजनाकथितः पतिः । 5 ABC अकार° । 6 BC स्थापयेना° ।

ढिल्लायी त्रिकलिर्भावो देशीकारं निजापणम् ।
अङ्गहारो मनष्टेवा लयो मुखरसस्तथा ॥ ३९
थसको वितडं शङ्का नीकीनसनिकापि च ।
विवर्त्तनं मसृणता विहसी गीतवाद्यता ॥ ४०
विलम्बिताभिनयावङ्गानङ्गं कोमलिकापि च ।
तूकमूयार एतानि षट्त्रिंशत्संमितानि च । ४१
देशीयलास्यकाङ्गानि राजराजो न्यरूरुपत् ॥
सौष्ठवं यत् पुरा प्रोक्तं तस्य पात्राङ्गुलैस्तु या । ४२
चतुर्भिरष्टभिश्चैव यद्वा द्वादशभिस्त्रिधा ॥
खर्वता जानुकट्यूरुकण्ठेष्वीर्ष्येच्छयाथ वा ।
तत्तद्देशानुसारेण तत् सौष्ठवमिहोदितम् ॥ ४३

॥ इति सौष्ठवम् ॥ १ ॥

*

यच्च सामग्र्यसंपत्तौ कुतपे प्रगुणीकृते ।
स्वस्थाने स्थापयेदङ्गं नर्त्तकी स्थापना तु सा ॥ ४४

॥ इति स्थापना ॥ २ ॥

*

ईषन्मन्दानिलचलत्पद्मपत्रोदबिन्दुवत् ।
यत्राङ्गनाङ्गसंचारो भाति तालः स उच्यते ॥ ४५

॥ इति तालः ॥ ३ ॥

*

सुकुमारं सुमधुरं सविलासं च चालनम् ।
युगपत् बाहुकट्यूरु[1]न्यस्तत्वे लढिरुच्यते ॥ ४६
केचिदानन्दसंदोहं सङ्गीतप्राप्तिसंभवम् ।
सौन्दर्यातिशयोपेतं[2] कर्माहुर्लढिसंज्ञितम् ॥ ४७

॥ इति लढिः ॥ ४ ॥

*

युगपन्नाभिकट्यूरुपादानां सविलासकम् ।
नातिमन्दद्रुतं तालसाम्यान्माधुर्यपेशलम् ।
चालनं चालिरित्युक्ता त्वचलस्थितिभूभृता ॥ ४८

॥ इति चालिः ॥ ५ ॥

*

1 ABO °ट्योरु । 2 ABO सौन्दर्या° ।

चलाचलिश्च सैवोक्ता शैघ्र्यसांमुख्यनिर्भरा ।
॥ इति चलाचलिः ॥ ६ ॥

*

लास्याङ्गानि सचारीणि पादादीनां च चालनम् ॥ ४९
कृत्वातिप्रौढितो यत्र गीतवाद्यादिमेलनम् ।
मध्ये मध्ये नटी कुर्यात् सुकलासं तदा स्मृतम् ॥ ५०
केचित् स्थानकचारीणां हस्तकाद्यङ्गकस्य च ।
गीतवाद्यलये मेलं कलासमभणन् बुधाः ॥ ५१
॥ इति सुकलासः ॥ ७ ॥

*

नृत्यन्ती नर्त्तकी यत्र भुजावधि विलासिनी ।
कुचयोः कम्पनं कुर्याच्छीघ्रं थरहरं तु तत् ॥ ५२
॥ इति थरहरम् ॥ ८ ॥

*

गीततालसमं यत्र कटिकुं(?कु)चभुजादिनः ।
नर्तकी चालनं कुर्यात् लास्याङ्गं किन्तु तत्स्मृतम् ॥ ५३
॥ इति किन्तु ॥ ९ ॥

*

भावप्रकाशकैर्य[1]त्र(?श्लथै)[2]रङ्गोल्लासैर्मुहुर्मुहुः ।
सूक्ष्मैर्द्विस्त्रिगुणैर्वापि द्रुततालान्निरूपितात् ।
स उल्लासो यत्र पात्रं मनो हरति दर्शयत् ॥ ५४
॥ इत्युल्लासः ॥ १० ॥

*

अग्रतः पृष्ठतोऽधस्तादूर्ध्वं वा चालनं भवेत् ।
तालमानेन कुचयोः स्कन्धयोर्युगपत् क्रमात् ॥ ५५
विलम्बेनाविलम्बेन तदुरोङ्गणमुच्यते ।
विलम्बितं द्रुतं वापि ललितं यत् कुचांशयोः ।
ललिते चालने तिर्यक् केषांचित्तदुरोंगणम् ॥ ५६
॥ इत्युरोङ्गणम् ॥ ११ ॥

*

यत्राङ्गं नर्त्तकी नृत्ये सहेलाभावमन्थरम् ।

---

1 BC यत्रतुंलिगो° । 2 CF नर्तक्यास्त्वरया तालाद् द्विगुणत्रिगुणैस्तदा । भावाभिव्यञ्जकैः सूक्ष्मैर्ललितैः श्लथबन्धिभिः । अङ्गैरुल्लसनैर्युक्तमुल्लासं संप्रचक्षते । वेमः in भ. को. पृ. ८५.

किञ्चित् सौष्ठवमाधुर्यविलासं भावभाविता ।
कुरुते कथिता सा तु ढिल्लायी लास्यकोविदैः ॥ ५७

॥ इति ढिल्लायी ॥ १२ ॥

*

लयतालानुगैर्यत्र शिरोभिः पञ्चभिर्नटी ।
विधुताकम्पितधुतपरिवाहितकम्पितैः ॥ ५८
चार्यां वा स्थानके वापि प्रेक्षकाणां मनो यदा ।
तद्गतं कुरुते सोक्ता त्रिः कलिः कलिनोदिना ॥ ५९

॥ इति त्रिकलितः ॥ १३ ॥

*

यत्र नृत्यानुगं गीतं नाट्यं च लयसुन्दरम् ।
पश्यन्ती हर्षमासाद्य पुष्यतीव कलाङ्कुरान् ।
स्वभावं सालसं नृत्ये स भावो भावनोदितः ॥ ६०

॥ इति भावः ॥ १४ ॥

*

अग्राम्यं सुन्दरं नानादेशरीतिसमन्वितम् ।
तत्तद्देशानुसारेण देशीकारं तु नर्तनम् ॥ ६१

॥ इती देशीकारम् ॥ १५ ॥

*

रेखासौष्ठवसंयुक्तं हस्तकानुगहष्टिकम् ।
नायकेच्छानुगं नृत्यं निजापणमिति स्मृतम् ॥ ६२

॥ इति निजापणम् ॥ १६ ॥

*

पूर्वोत्तरार्धयोर्देहे चापवल्ललितानतिः ।
तालमानसमायुक्तो सोऽङ्गहारः स्मृतो बुधैः ॥ ६३

॥ इति अङ्गहारः ॥ १७ ॥

*

हस्ताद्यङ्गक्रियायोगादभ्यस्वा(?स्ता)दन्य एव यः ।
कोऽप्यपूर्वो गुणः सूक्ष्मो लयत्रितयपेशलः ।
नानाभावयुतस्तज्ज्ञैर्मन इत्यभिधीयते ॥ ६४

॥ इति मनः ॥ १८ ॥

*

कटाक्षौ यत्र नर्त्तक्याः सोत्तरङ्गौ स्वभावतः ।
नानाभावालिङ्गिताङ्गौ नृत्ये ठेवेति कीर्त्तिता ॥ ६५

॥ इति ठेवा ॥ १९ ॥

*

नृत्यन्ती यल्लये कापि वेगाच्चेदपरौ लयौ ।
साश्चर्यं योजयेन्नृत्ये नर्त्तकी स लयः स्मृतः ॥ ६६

॥ इति लयः ॥ २० ॥

*

यद्रसं तनुते नृत्यं तद्रसानुगुणं सुखम् ।
पात्रं वर्णविपर्यासात् कुर्यान्मुखरसस्तदा ॥ ६७

॥ इति मुखरसः ॥ २१ ॥

*

थसकः स्यात् सललितं स्तनाधोनयनं लयात् ।

॥ इति थसकः ॥ २२ ॥

*

यच्चारीकरणाद्यं स्यात् स्वभावाल्ललितं बलात् ॥ ६८
कुरुते कठिनं तद्धि वितडं कीर्त्तितं बुधैः ।

॥ इति वितडम् ॥ २३ ॥

*

पूर्वमौद्धत्यतो यत्र व्यापार्याङ्गानि नर्त्तकी ॥ ६९
सविभ्रमं पुनस्तानि पुरतः पार्श्वयोरपि ।
आहरन्ती वञ्चयते जनं शङ्का तदोदिता ॥ ७०

॥ इति शङ्का ॥ २४ ॥

*

त(?य)दा स्यान्नर्त्तकी नीकी सङ्गीते सलये तदा ।
स्खलितावर्जिता रङ्गे नृत्यनीतिविदो विदुः ॥ ७१

॥ इति नीकी ॥ २५ ॥

*

सोक्ता नमनिका यस्यां प्रयासेन विना नतिः ।
दुष्करेषु प्रयोगेषु नर्त्तक्यङ्गेषु दृश्यते ॥ ७२

॥ इति नमनिका ॥ २६ ॥

*

हस्तकैर्भ्रमरीभिश्च चारीभिः करणैरपि ।
वाद्यप्रबन्धवर्णानां समत्वेनैव नर्त्तकी ॥ ७३
कुर्यान्नृत्यमिदं प्रोचुर्नृत्याभिज्ञा विवर्तनम् ।

॥ इति विवर्तनम् ॥ २७ ॥

*

तदा मसृणता यत्र शृङ्गाररससंभृता ।
दृष्टिः प्रकाश(?श्य)ते नट्या नृत्यहस्तकसंयुता ॥ ७४

॥ इति मसृणता ॥ २८ ॥

*

विहसी स्यात् स्मितं वक्त्रं पद्मसौन्दर्यपेशलम् ।
॥ इति विहसी ॥ २९ ॥

*

सा गीतवाद्यता नृत्येन्नर्तक्यनुगुणं यदा ॥ ७५
वर्णानां च लयस्यापि तथा च गीतवाद्ययोः ।
॥ इति गीतवाद्यता ॥ ३० ॥

*

यत्र विश्रम्य विश्रम्य लङ्घयन्ती मुहुर्मुहुः ॥ ७६
वाद्यस्यावयवान्नृत्ये नर्त्तकी तद्विलम्बितम् ।
॥ इति विलम्बितम् ॥ ३१ ॥

*

भावसंसूचकैरङ्गैर्नर्तकी यत्र नृत्यति ॥ ७७
यथावत् करणैरुक्तोऽभिनयो नयकोविदा ।
॥ इत्यभिनयः ॥ ३२ ॥

*

अङ्गं लास्याङ्गकं प्रोक्तं ताण्डवाङ्गमनङ्गकम् ॥ ७८
यत्र नृत्ये द्वयोर्योगस्तदङ्गानङ्गसंज्ञकम् ।
॥ इत्यङ्गानङ्गम् ॥ ३३ ॥

*

ज्ञेया कोमलिका यत्राङ्गानां स्याद्वलनादिभिः ॥ ७९
क्रियाभिश्चेतसो यत्र दृश्यते तु परार्द्रता ।
॥ इति कोमलिका ॥ ३४ ॥

*

लयेन चलनं यत्र लसल्लीलावतंसकौ ॥ ८०
चलत्वेनाचलत्वेन हावप्रचुरतायुतम् ।
यत्र कर्णौ प्रकुर्वाते तत्तूकं मुनयोऽवदन् ॥ ८१
॥ इति तूकम् ॥ ३५ ॥

*

शोभावलितसर्वाङ्गा नृत्यस्यावयवा यदा ।
पूर्वपूर्वमुपक्रान्ता वर्त्तेरनुत्तरोत्तरम् ।
तालप्रयोगचातुर्यात् स उयारो बुधैः स्मृतः ॥ ८२
॥ इति उयारः ॥ ३६ ॥

*

अन्या अपि भिदाः सन्ति देशीलास्याङ्गसंभवाः ।
न ता इहोपदिश्यन्ते यतः साध्याः स्वबुद्धिभिः ॥ ८३

यथा यथा भवेद्भक्तिः पश्यतां सचमत्कृतिः ।
तथा तथा विधातव्यं सङ्गीतमिति सङ्ग्रहः ॥ ८४

॥ इति देशीलास्याङ्गानि ॥

*

[नानागतिप्रचारनृत्यम् ।]

[1]अथ नानागतिप्रचारनृत्यम् । यथा चाह भगवान् श्रीभरताचार्यः–

तत्रोपवहनं कृत्वा भा[2]ण्डवाद्यपुरस्कृतम् ।
यथामार्गरसोपेतं[3] प्रकृतीनां प्रवेशने ॥ ८५
ध्रुवायां संप्रवृत्तायां पटे चैवापकर्षिते ।
कार्यः प्रवेशः पात्राणां नानार्थरससंभवः ॥ ८६
रङ्गे विकृष्टे भ[4]रतेन कार्यौ
गतागतैः पादगतिप्रचारः ।
त्र्यस्त्रस्त्रिकोणे चतुरस्त्ररङ्गे
गतिप्रचारश्चतुरस्त्र एव ॥ ८७

ऋषय ऊचुः–

यदा[5] मनुष्या राजानस्तेषां दे[6]वगतिः कथम् ।
अथोच्यते कथं नेया[7]गती राज्ञां भविष्यति ॥ ८८
इह प्रकृतयो दिव्या [तथा च[8] दिव्यमानुषी ।
मानुषी चेति विज्ञेया नाट्यनृत्तक्रियां प्रति ॥ ८९
देवानां प्रकृतिर्दिव्या राज्ञां वै दिव्यमानुषी ।
या त्वन्या लोकविदिता] मानुषी सा प्रकीर्त्तिता ॥ ९०
देवांशजास्तु राजानो वेदाध्याये सुकीर्त्तितम् ।
एवं देवानुकरणे दोषो ह्यत्र न विद्यते ॥ ९१
दूतीदर्शितमार्गस्तु प्रविशेद्रङ्गमण्डलम् ।
तस्याद्य[9](? स्माच्च) प्रकृतिं ज्ञात्वा भावं कार्यं च तत्त्वतः ।
गतिप्रचारं विभजेन्नानावस्थान्तरात्मकम् ॥ ९२

---

1 ABC अथ देशीनृत्यभेदाः । A has the same reading but there are marks of delition on it. 2 ABC ताण्ड° cf भाण्डवाद्यपुरस्कृतम् ना. शा. अ. १२ श्लो. २ (G. O. S.). 3 ABC °पेत प्र° cf यथामार्गरसोपेतं ibid. 4 ABC सुरतेन कायो । cf रङ्गे विकृष्टे भरतेन कार्यौ । ना. शा. अ. १२ श्लो. २० (G. O. S.). 5 ABC यथा । cf अ. १२ श्लो. २५ । 6 ABC वेद° । cf यदा मनुष्या राजानस्तेषां देवगतिः कथम् । ना. शा. अ. १२ श्लो. २५ (G. O. S.). 7 ना. शा. नैषा । 8 inserted from ना. शा. अ. १२ श्लो. २५–२६. नि. सा. 9 तस्माच्च । ना. शा. अ. १२ श्लो. १४२ (G. O. S.).

म्लेच्छानां [1]जातयो यास्तु पुलिन्दाद्या द्विजोत्तमाः ।
तेषां देशानुरूपेण कार्यं गतिविचेष्टितम् ॥ ९३
पक्षिणां श्वापदानां च पशूनां च द्विजोत्तमाः ।
स्वस्वजातिसमुत्थेन भावेन प्रतियोजयेत् ॥ ९४
सिंहर्क्षवानराणां च गतिः कार्या प्रयोक्तृभिः ।
या कृता नरसिंहेन विष्णुना [प्रभविष्णुना][2] ॥ ९५
आलीढं स्थानकं कृत्वा गात्रं तस्यैव चानुगम् ।
जानूपरि करं त्वेकमपरं चैव स्वस्थितम् ॥ ९६
अवलोक्य दिशः सर्वाश्चिबुकं बाहुमस्तके ।
गन्तव्यं विक्रमैर्विप्राः पञ्चतालान्तरोत्थितैः ॥ ९७
शेषाणामर्थयोगेन गतिं स्थानं प्र[योज]येत् ।
शेषं स्थानं प्रयोगेषु रङ्गावतरणेषु च ॥ ९८
एवमेते प्रयोक्तव्या नराणां गतयो बुधैः ।
नोक्ता याश्च मया ह्यत्र ग्राह्याश्चापि हि लोकतः ॥ ९९

*

अतः परं प्रवक्ष्यामि स्त्रीणां गतिविचेष्टितम् ।
स्त्रीस्थानकानि कार्याणि गतिष्वाभाषणेषु च ॥ १००
आयतं चावहित्थं च अश्वक्रान्तमथापि वा ।
स्थानकं तावदेव स्याद्यावच्चेष्टा प्रवर्त्तते ।
भग्नं च स्थानकं नृत्ये चारी च समुपस्थिता ॥ १०१
यो विधिः पुरुषाणां हि कार्यो नाट्यप्रयोक्तृभिः ।
स्त्री पुंसः प्रकृतिं कुर्यात् स्त्रीभावं पुरुषोऽपि वा ॥ १०२
धैर्योदार्येण सत्त्वेन बुद्ध्या तद्वच्च कर्मणि ।
स्त्री पुंभावमभिनयैर्दिशेद् वाक्यविचेष्टितैः ॥ १०३
स्त्रीवेषचरितैर्युक्तः प्रेक्षिताप्रेक्षितैस्तथा ।
मृदुमन्तर्गतैश्चैव पुमान् स्त्रीनृत्तमाचरेत् ॥ १०४
गतिप्रका(?चा)रस्तु मयोदितोऽयं
नोक्तश्च योऽभ्यासवशेन साध्यः ।
अतः परं रङ्गपरिक्रमस्य
वक्ष्यामि कक्षान्तरसंविधानम् ॥ १०५

॥ इति नानागतिप्रचारनृत्यम् ॥

*

1 ABC जायते । cf म्लेच्छानां जातयो यास्तु । ना. शा. अ. १२ श्लो. १५१. (G. O. S.). 2 inserted from. ना. शा. अ. १२ श्लो. १५४. (G. O. S.).

[देशीनृत्यभेदाः ।]

अथ देशीनृत्यभेदाः प्रदर्श्यन्तेऽत्र केचन ।
आतोद्यैर्वाद्यमानेषु यतिप्रहरणादिषु ।
रुद्रभक्ताः स्त्रियो यद्वा पुमांसः सौष्ठवान्विताः ॥ १०६
[1]रुद्राक्षवलया भस्मत्रिपुण्ड्राः शिवरूपिणः ।
कोणान् दक्षिणवामेन सर्पान् कांस्यादिनिर्मितान् ॥ १०७
बहुसङ्गमि(?भङ्गिम)नोहारि गायन्तः श्रेणिभिः शिवम् ।
कदाचित्सम्मुखीभूय लास्याङ्गैरुपबृंहितम् ।
यत्र नृत्यन्ति तत् प्रोक्तं शिवप्रियमिह स्फुटम् ॥ १०८

॥ इति शिवप्रियम् ॥ १ ॥

*

नर्त्तनं यन्मया प्रोक्तमासारिताभिधं[2] पथि ।
चारीभिर्मण्डलैश्चापि लास्याङ्गैरुपबृंहितैः ॥ १०९
देशीतालैश्च संयोज्य तच्चेदत्र प्रवर्त्यते ।
तदा रासकसंज्ञं स्यादिति नृत्यविदो विदुः ॥ ११०

[॥ इति रासकनृत्यम् ॥ २ ॥]

*

यत्र स्त्रीभिर्वसन्ततौ नृत्यतेऽभिनयात्मकम् ।
वसन्तरागसंबद्धैर्गीतैरौद्धत्यवर्ज्जितम् ।
चरितैश्चित्रितं राज्ञस्तदुक्तं नाट्यरासकम् ॥ १११

[॥ इति नाट्यरासकम् ॥ ३]

*

यत्र राज्ञः पुरो नार्यश्चतस्रोऽष्टाथ षोडश ।
द्वात्रिंशद्वा चतुःषष्टिराधाय करपङ्कजैः ॥ ११२
दण्डौ सुवृत्तौ मसृणौ सुवर्णादिविनिर्मितौ ।
अरत्निसंमितौ दैर्घ्ये स्थौल्येनाङ्गुष्ठसंमितौ ॥ ११३
अथ देशानुरागेण गृहीत्वा दण्डचामरे ।
दण्डक्षौमाञ्चले यद्वा च्छुरिकादण्डकावथ ॥ ११४
चतुर्भिः पञ्चभिर्घातैर्यद्वा खड्ग(?षट्क)प्रहारजैः ।
सशब्दं घातभेदैश्च युग्मीभूय वियुज्य च ॥ ११५
अग्रतः पृष्ठतो वापि पार्श्वसंगतयापि च ।

1 ABO °द्राख्य° । 2 ABO °तभिदांपथि cf तामिधां पथि Kumbha in भ. को. पृ. ९२४.

घातभेदान् वितन्वन्त्यश्चारीभ्रमरिकादिभिः ॥ ११६
चित्रैः सव्यापसव्येन मुहुर्मण्डलसंस्थया ।
लयतालानुगं यत्र प्रनृत्यन्ति वराङ्गनाः ।
तदुक्तं नृत्यतत्त्वज्ञैर्दण्डरासकनर्तक(? न)म् ॥ ११७

॥ इति दण्डरासकम् ॥ ४ ॥

*

द्विपद्या वर्णतालेन चर्चर्या वा मनोहरैः ।
सलास्यैर्गतिभेदैश्च मण्डलीभूय सर्वशः ॥ ११८
यत्र नार्यः प्रनृत्यन्ति प्राप्ते वासन्तिकोत्सवे ।
तालिकाभिरलं हृष्टा देशभूषाविभूषिता ।
तदुक्तं चर्चरीनृत्यं रसरागलयानुगम् ॥ ११९

॥ इति चर्चरीनृत्यम् ॥ ५ ॥

*

यत्र सौराष्ट्रदेशीया नार्यो नृत्यन्ति सुन्दरम् ।
तत्तद्देशीयभूषाढ्या सिचयान्तावगुण्ठिताः ॥ १२०
मृद्वङ्गहारसुभगा देशकाकुभिरञ्चितान् ।
रागेणेष्टेन गायन्त्यो दोहकान् रसनिर्भरान् ॥ १२१
चारीभिर्भ्रमरीभिश्च चरणैरुद्धतक्रियैः ।
ललितैः पदविन्यासैर्हस्तकैर्बहुभङ्गिभिः ।
यत्र तद्दोहकाख्यं स्यान्नर्तनं नर्तकप्रियम् ॥ १२२

॥ इति दोहकनृत्यम् ॥ ६ ॥

*

अन्येऽप्युत्प्रेक्षितुं शक्या भेदा देशीयनृत्यजाः ।
राजराजोपदेशेन स्वयमूह्या बुधैश्च ते ॥ १२३

॥ इति देशीनृत्यभेदाः ॥

*

[देशीनृत्यपरिभाषा ।]

केचित् सालगसूडस्य भेदमन्यं प्रचक्षते ।
ध्रुवो मण्ठो [1]रूपकं चाड्डतालो[2] यतिरेव च ॥ १२४
प्रतितालस्तथा चैकतालीत्येवं स सप्तभिः ।
तत्र कल्पस्तथा तालग्रहन्यासाभिधानकौ ॥ १२५
यः पदादौ पदान्ते वा ह्यतीतः स्पर्शरञ्जितः ।
स कल्पो भण्यते विद्भिः पदाद्यन्यस्य च ग्रहः ॥ १२६

1 BC मूलूपकं । 2 ABC °तालौ ।

य उद्ग्राहादिधातूनां समाप्तिं ज्ञापयेदथ।
तालताडनभेदोऽसौ ताल इत्यभिधीयते ॥ १२७
गीतादौ तु भवेत् कल्पस्तालः कल्पसमापने।
मध्ये कलासो विज्ञेयः कैश्चिदेष विधिः स्मृतः ॥ १२८

॥ इति देशीनृत्यपरिभाषा ॥

*

[नृत्याङ्गानि ।]

श्रुतिर्गीतं कलासश्च तालश्चेति चतुष्टयम्।
[1]इति देशीविदः प्राहुर्नृत्याङ्गानि समासतः ॥ १२९

॥ इति नृत्याङ्गचतुष्टयम् ॥

*

[देशीगीतनृत्यविधिः ।]

आलप्त्यादिविभेदेन देशीनृत्यविधिक्रमः।
पृथक् प्रदर्शितः कैश्चित् स एवात्रोपदि[2]श्यते ॥ १३०
रङ्गप्रवेशे सञ्जाते पार्श्वयोश्चतुरः करान्।
[3]अग्रत[ः] षोडश त्यक्त्वा नर्त्तक्या गायकैस्ततः ॥ १३१
आलप्तौ क्रियमाणायां नर्त्तकी वामपाणिना।
धृत्वा चेलाञ्चलं दक्षे पताकं दधती करे।
कलासैर्हावभावाभ्यां युतं भ्रमणमाचरेत् ॥ १३२

॥ इत्यालप्तिनृत्यम् ॥ १ ॥

*

अथानक्षरताले तु प्रवृत्ते गीतमानतः।
संदंशं त्रिपताकाभ्यां नर्त्तकी नृत्यमाचरेत् ॥ १३३
ध्रुवनृत्ये यथौचित्यं षट् चत्वारोऽथ पञ्चधा।
धातुद्वये द्वितालो स्यात् कलासो हस्तकस्तथा ॥ १३४
स्वेच्छयात्र प्रकर्तव्य इति गीतविदो विदुः।
षड्क्ता मन्त(?ण्ठ)का येऽत्र त्रिताली तेषु संस्थिता[4] ॥ १३५

॥ इति मण्ठकनृत्यम् ॥ २ ॥

*

पताकाद्याः कपित्थान्ता रूपकेऽष्टकरा ध्रुवम्।
ध्रुवे लयान् विलम्बादीनुद्ग्राहाभोगयोर्द्रुतः[5] ॥ १३६

॥ इति रूपकनृत्यम् ॥ ३ ॥

*

---

1 Kumbha in भ. को. (पृ. ८५४) drops this line. 2 ABC °दृश्यते। 3 अग्रतः षोडशः पञ्च नर्तक्यो गायकैः सह। Kumbha in भ. को. (पृ० ५७). 4 BC संमतिः। 5 ABC °गयोद्धु°।

उद्ग्राहादिष्वड्डताले लयः कार्यो विलम्बितः ।
विकल्पतः कलासाः स्युः खटकामुखपूर्वकाः ।
सूचयन्ता हस्तका द्वित्राः कार्याः सर्वे ध्रुवे पदे ॥ १३७

॥ इत्यड्डतालः ॥ ४ ॥

*

यतौ लयास्त्रयः प्रोक्ता हस्तकाः षोडश क्रमात् ।
पद्मकोशादिदोलान्ताः,

॥ इति यतिनृत्यम् ॥ ५ ॥

*

प्रतिताले तु हस्तकाः ॥ १३८
कार्याः पुष्पपुटाद्यास्तु चतुरस्रावसानकाः ।
द्रुतो लयोऽथ मध्यो वा,

॥ इति प्रतितालनृत्यम् ॥ ६ ॥

*

तथा स्यादेकतालिके ॥ १३९
उत्तानवञ्चिताद्यं तु,
नलिनीपद्मकोशकम् ।
अथ(?व)साने विधायैतद्धस्तषोडशकं परम् ॥ १४०
संयुतैर्वियुतैर्वाथ करैर्नृत्यं समाचरेत् ।
मध्ये मध्ये भ्रमरिकां गीतान्ते च प्रदक्षिणम् ॥ १४१
निसारुरासकं वाद्यास्तालाः स्वेच्छाकरः करः ।
आलापोऽपि सहस्तः स्याल्लयो हस्तानुगः स्मृतः ॥ १४२
दूरे पादप्रचारः स्याद् झम्पायामिति तद्विदः ।
डोम्बडे हस्तको ज्ञेयः स्वेच्छयानुलयास्त्रयः ॥ १४३
षट्स्वेतेषु च गीतेषु कलासः स्याद्विकल्पतः ।
कल्पतालविधिर्ज्ञेयो मण्ठकस्येव सूरिभिः ॥ १४४

॥ इति देशीगीतनृत्यविधिः ॥

*

[नवरसाः ।]

अथ नवा(?व) [रसा] लिख्यन्ते ।

जीयाद्विसदृशी काचिदपूर्वेव सरस्वती ।
यस्यां समभवच्चित्रं काव्यरत्नाकरो महान् ॥ १४५
ननु कोऽयं रसो नाम पदार्थस्तद्विचार्यते ।
रस्यते वा सहृदयैः स्वयं वा रस्यते रसः ॥ १४६

विभावैर्जनितो भावोऽनुभावैरनुबोधितः ।
व्यभिचारिभिरास्फीतो रस इत्यभिधीयते ॥ १४७
नटोऽनुकरणत्वेन भावुकः पात्रमुच्यते ।
सभ्यनायकयोस्तस्याश्रयत्वं मन्यते परे ॥ १४८
इति सर्वमिदं सम्यग् रमणीयतरं मतम् ।
एवं सति नृपेणोक्तो नृप एव रसाश्रयः ॥ १४९
एवं रसाश्रयं सम्यग् राजा सर्वरसाश्रयः ।
नाग्र(?अग्रे)स्फुरत्सर्वरसः[1] सम्यगेवं न्यरूपयत् ॥ १५०

अथ शृङ्गाररसः ।

शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसाः स्मृताः ॥ १५१

यथा चाह भगवान् भरताचार्यः सूत्रेण–

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।"

मन्ये गुणागुणविशेषविवेकदक्षः
शृङ्गारमेव सकलेषु रसेषु मुख्यम् ।
यत् स्वीयमर्धमु(?म)पहाय तनोर्बभार
तत्राद्रिराजतनयार्धममोच्यमीशः ॥ १५२
धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या
इतीतिहासस्य च मूलमेषः ।
शृङ्गारनामा रस इत्यतोऽय-
मादौ मया लक्षणमुच्यतेऽस्य ॥ १५३
पुंनार्योश्चेष्टितं यच्च रत्युत्थं स्यात्परस्परम् ।
तदाहुः केऽपि चृङ्गारं केऽपि त्वपरथा जगुः ॥ १५४
सुखप्रायेष्टसंपन्न ऋतुमाल्यादिसेवकः[2] ।
पुरुषः प्रमदायुक्तः चृङ्गार इति संज्ञितः ॥ १५५
ऋतुमाल्यालङ्कारैः प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः ।
उपवनगमनविहारैः चृङ्गाररसः समुद्भवति ॥ १५६
नयनवदनप्रसादैः स्मितमधुरवचोधृतिप्रमा(?मो)दैश्च ।
मधुरैश्चाङ्गविकल्पैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥ १५७
संभोगे(?गो) विप्रलम्भेन विना न रतिकारकः ।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो यतो भवेत् ॥ १५८

---

1 ABC सर्वसर्वरसः । 2 Verses 159–161 from ना. शा. A-6. verses 46-48 (N. S.).

अथ देवादिविषयरतेरुदाहरणम्-

सत्यं सन्ति जगत्त्रयीपरिसरे ते ते सुदा(?)धीश्वरा-
स्तेषां संस्मृतिमात्रमत्र फलदं स्वर्गापवर्गादिनः ।
अस्माकं तु यदादि चित्तफलके संकल्पकल्पद्रुमं
कुम्भस्वामिपदारविन्दमुदितं तेनैव सर्वामयः ॥ १५९

रूपसंपन्नमग्राम्यं प्रेमप्रायं प्रियंवदम् ।
कुलीनमनुकूलं च कलत्रं केन लभ्यते ॥ १६०

संपत्तौ च विपत्तौ च मरणे या न मुञ्चति ।
स्वामीयातां(?स्वामिनं तत्)पतिप्रेम जायते पुण्यकारिणः ॥ १६१

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः ॥ १६२

निर्वेदोऽथ तथा ग्लानिशङ्कासूयामदश्रमाः ।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥ १६३

व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ॥ १६४

सुप्तं विबोधोऽमर्षश्च अवहित्थमथोऽग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ।
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ॥ १६५

भावप्रगल्भा यथा-

न जाने संमुखायाते प्रियाणि वदति प्रिये ।
सर्वाण्यङ्गानि [किं यान्ति][1] श्रोत्रतामुत नेत्रताम् ॥ १६६

॥ इति शृङ्गारः ॥ १ ॥

*

अथ हास्यः ।

विपरीतालङ्कारैर्विकृताचाराभिधानवेषैश्च ।
[वि]कृतैरङ्गविकारैर्हसतीति [रसः स्मृतो] हास्यः ॥ १६७

तस्य ओष्ठनासाकपोलस्पन्दनदृष्टिव्याकोशाकुञ्चनस्वेदास्यरागपार्श्वग्रहणादिभिरनुभावैरनुभवः (? भिनयः) प्रयोक्तव्यः ।

स्मितमथ हसितं विहसितमुपहसितं चापहसितमतिहसितम् ।
द्वौ द्वौ भेदौ स्यातामुत्तममध्याधम[2]प्रकृतौ ॥ १६८

---

1 inserted from Amaruśataka verse 64. 2 ABC तां श्रममध्यामम° cf. ना. शा. अ. ६. श्लो. ५२. । (G. O. S.).

विकृताचारैर्वाक्यैरङ्गविकारै[श्च] विकृतवेषैश्च ।
हासयति[1] जनं यस्मात् तस्माद् ज्ञेयो रसो हास्यः ॥ १६९

॥ इति हास्यः ॥ २ ॥

*

अथ करुणो रसः ।

इष्टवध[2]दर्शनाद्वा विप्रियवचनस्य संश्रयाद्वापि ।
एभिर्भावविशेषैः करुणरसो नाम संभवति ॥ १७०

सस्वनरुदितैर्मोहागमैश्च परिदेवितैरनेकैश्च ।
अभिनेयः करुणरसो [3]देहायासाभिघातैश्च ॥ १७१

॥ इति करुणो रसः ॥ ३ ॥

*

अथ रौद्ररसः ।

युद्धप्रहारपातनविकृतच्छेद[न]विदारणैश्चैव ।
एभिश्चार्थविशेषैरस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥ १७२

॥ इति रौद्ररसः ॥ ४ ॥

*

अथ वीरः ।

स्थितिधैर्यवीर्यगर्वैरुत्साहपराक्रमप्रभावैश्च ।
वाक्यैश्चाक्षेप[4]कृतैर्वीररसः सम्यगभिनेयः ॥ १७३

उत्साहाध्यवसायादविषादित्वादविस्मितान्मोहात् ।
विविधादर्थविशेषाद्वीररसो नाम संभवति ॥ १७४

॥ इति वीररसः ॥ ५ ॥

*

अथ भयानकः ।

विकृतरससत्त्वदर्शनसंग्रामारण्यशून्यगृहगमनात् ।
गुरुनृपयोरपराधात् कृतकश्च भयानको ज्ञेयः ॥ १७५

[5]गात्रमुखदृष्टिभेदैरूरुस्तम्भाभिवीक्षणोद्वेगैः[6] ।
सन्नमुखशोष[7]हृदयस्पन्दनरोमोद्गमैश्च भयम् ॥ १७६

एतत् स्वभावजं सत्त्वसमुत्थं तथैव कर्तव्यम् ।
[8]पुनरेभिरेव भावैः कृतकं मृदुचेष्टितैः कार्यम् ॥ १७७

---

1 ABC हासयन्ति । of हासयति. ना. शा. अ. ६. श्लो. ५०. (G. O. S.) 2 ABC [illegible] वन्धुद° । 3 ABC मनुजैर्दे° । 4 ABC श्वापेक्ष° । 5 ABC मामुत्र [illegible] त्री···द्वे··· । 7 ABC शोष······स्प० । 8 ABC······भि······ [illegible] from. ना. शा. अ. ६. श्लो. ७०-७२. (G. O. S.)

करचरणवेपथुगात्रस्तम्भसंकोचहृदयकम्पनेन ।
शुष्कौष्ठ[1]तालुकण्ठैर्भयानको नित्यमभिनेयः ॥ १७८

॥ इति भयानकः ॥ ६ ॥

*

अ[न]भिमतदर्शनेन गन्धरसस्पर्शशब्ददोषैश्च ।
उद्वेजनैश्च बहुभिर्बीभत्सो रसः सम्यगभिनेयः ॥ १७९
मुखनेत्रविकूणननासाप्रच्छादना[व]नमितास्यैः ।
अव्यक्तपाद[2]पतनैर्बीभत्सः[3] सम्यगभिनेयः ॥ १८०

॥ इति बीभत्सो रसः ॥ ७ ॥

*

अथाद्भुतो रसः ।
यस्त्वतिशयार्थयुक्तं वाक्यं[4] शिल्पं च कर्मरूपं च ।
तत् सर्वमद्भुतरसे विभावरूपं हि विज्ञेयम् ॥ १८१
स्पर्शग्रहोल्लुकसनैर्हाहाकारैश्च साधुवादैश्च ।
वेपथुगद्गदवचनैः स्वेदाद्यैरभिनयस्तस्य ॥ १८२

॥ इति अद्भुतो रसः ॥ ८ ॥

*

अथ शान्तो रसः ।
शमस्थायी भवेच्छान्तः सर्वत्र समदर्शनः ।
तच्च ज्ञानाद्गतो (? ते)च्छः स तमोरागपरिक्षयात् ॥ १८३
प्रत्यक्षभूमिश्रितयोपारूढत्वेन नर्त्तकः ।
लोकस्यैव स्वभावस्य वासनारूपभेदतः ॥ १८४
स्तम्भादिभिः प्रयोज्योऽत एवं शान्तरसात्मता ।
एतेषामनुभावास्तु ज्ञेया राजोपदेशतः ॥ १८५

॥ इति शान्तो रसः ॥ ९ ॥

*

श्यामः सितः कपोतश्च रक्तो गौरः सितस्तथा ।
नीलः पीतस्तथा शुक्लो रसवर्णाः क्रमादमी ॥ १८६
मूलं तु(?तौ)यंत्रिकस्यास्य रसमिच्छन्ति तद्विदः ।
त्रिभिर्नटस्थैर्यो भावा(?वोऽ)नुभावव्यभिचारिभिः ।
दाभि(?विभावै)र्व्यज्यते स्थायी स याति रसतां सदा ॥ १८७
शृङ्गाराज्जायते हास्यः करुणो रौद्रसंभवः ।
अद्भुतो वीरसंभूतो बीभत्साच्च भयानकः ॥ १८८

1 ABC °ष्ठकण्ठता° । 2 ABC पा···प° । 3 ABC °त्सरसः । 4 ABC °कय°···रूपं ।

परस्यानुरागेण शृङ्गारो जायते रसः ।
उक्तिप्रत्युक्तिभेदेन हास्यस्तत्रैव दृश्यते ॥ १८९
अत्याकुलतया बाला यदा रोदति मैथुने ।
करुणस्तत्र विज्ञेयो रौद्रो निष्ठुरताडनात् ॥ १९०
नखदन्तकराघातैर्वीरो धीरजनप्रियः ।
भयाद्बिन्दुनिपातस्य भयानकः स उच्यते ॥ १९१
लाला स्वेदः श्रमो मूर्च्छा बीभत्सो जायते रसः ।
अद्भुतोऽद्भुतसौख्यत्वात् शान्तो बिन्दुनिपा[त]नात् ॥ १९२

॥ इति नवरसाः ॥

॥ रसनृत्यं च ॥

*

यं प्रभुं नैकदेशीयनानानृत्यभिदाविदः ।
राजकन्या रञ्जयन्ति सदानन्दैकमन्दिरम् ॥ १९३

इति श्रीराजाधिराजश्रीकुम्भकर्णमहीमहेन्द्रेण विरचिते संगीतराजे षोडशसाहस्र्यां संगीतमीमांसायां नृत्यरत्नकोशे प्रकीर्णकोल्लासे लास्याङ्गपरीक्षणं तृतीयं [समाप्तम् ।]

———o———

चतुर्थोल्लासे चतुर्थं परीक्षणम्।

[पात्रलक्षणम्।]

पात्रस्य लक्षणं रेखा गुणा दोषाश्च मण्डनम्।
लक्षणं संप्रदायस्य गुणदोषाश्च तस्य च ॥ १
विशुद्धा पद्धतिश्चात्र तथा श्रमविधिः[1] शुभः।
गोण्डल्याश्च विधिः[2] सम्यक् पात्रलक्षणसंज्ञिते।
परीक्षणे क्रमेणैव निरूप्यन्ते यथार्थतः ॥ २

नर्त्तनाश्रय इहोदितं विदा
पात्रमेतदुचितं तु नर्त्तकी।
मुग्धमध्यभिदयोः प्रगल्भता
भेदतस्त्रिविधमत्र तत् स्मृतम् ॥ ३
यौवन(?नं) त्रितयलक्षणं क्रमात्
तस्य लक्षणमिहाभिधीयते।
तेन तत्त्रितयमत्र लक्ष्यते
यन्निरूपित इहास्ति लक्षितम् ॥ ४
श्रीफलोपमकुचाधरलीला-
भृत् कपोलजघनोरुविभ्रमम्।
प्रीतिपूर्वसुरतं प्रति तत् सो-
त्साहमत्र गदितं मयाऽऽदिमम् ॥ ५
पीवरोरुजघनं कठिनोच्चैः
पीनमूलघनसंभ्रमस्तनम्।
मन्मथस्य मृतजीवनौषधं
यौवनं निगदितं द्वितीयकम् ॥ ६
तत्परं तु मदनोन्मदिष्णुता-
हेतुकं परमशोभयाऽन्वितम्।
कामशिक्षितसुभावसंभृत-
प्रौढनैपुणरति तृतीयकम् ॥ ७
तुर्यमत्र गदितं तु कैश्चनो-
न्मन्दमन्मथरसं द्वितीयतः।
म्लाल(?न)ताद्युपचिताङ्गसंभ्रमं
तत्प्रगल्भविभवोद्धताद(?दि)तः ॥ ८

1–2 ABC विधिं।

पात्रमत्र गणितं न तूचितं
यज्जराभिमुखमेतदीरितम् ।
शोभया च रहितं विदांगणै-
र्नाहतं रतिपराङ्मुखं यतः ॥ ९
बालमप्यविदिताङ्गसंभ्रमं
तन्मनोविरहितं न संमतम् ।
यन्न रञ्जयितुमेतदर्हति
प्रायशो जनमनांसि संसदि ॥ १०

॥ इति पात्रलक्षणम् ॥

*

[रेखा ।]

या शिरोङ्घ्रिकरनेत्रपङ्कजा-
द्यङ्गमेलनविधौ सति स्फुटम् ।
के(?का)चिदत्र[च] दिश(?दृशा) मनोहरा
सा स्थितिर्निगदितात्र रेखिका ॥ ११

॥ इति रेखा ॥

*

[पात्रगुणाः ।]

सौष्ठवं विशदकान्तदन्तता
रूपसंपदमलातिविस्तरे ।
कर्णयोश्च लतिके विशालता
नेत्रयोरधरबिम्बचारुता ॥ १२
कम्बुसुन्दरसुकण्ठता लसत्-
पद्मतालसमकान्तिबाहुता ।
मध्यदेशतनुता विशालता
स्यान्नितम्बफलकेऽतिपेशला ॥ १३
उच्चता न तु न खर्वता तथा
पीनता न न सिरालता तनौ ।
कान्तिमत्त्वमविचार्यं धैर्यतौ-
दार्यता त्वतितरां प्रगल्भता ॥ १४
कोऽप्यसौ तरुणिमोद्गमः स्तनौ
कापि चारुकरभोरुतापि च ।

क्वापि वक्त्रकमलस्य माधुरी
स्वर्णरङ्गकृतभङ्गगौरता ॥ १५
श्यामतापि च चतुर्विधा पुनः
श्लिष्टसंधिसमता सुपार्ष्णिता[1] ।
मत्तदन्तिगमना मदालसा
चन्द्रजित्वरमुखी सुसंहता ॥ १६
कामबाण इव विश्वजित्वरं(?रः)
पात्रगो गुणगणोऽयमीरितः ।
कोमलैर्यदिह गात्रविभ्रम-
क्षेपकैर्विलसदङ्ग्यसल्लयैः ॥ १७
प्रोद्गिरत् किमु नु गीतवाद्ययो-
रक्षराणि सुघटैश्च सुतालैः ।
चाक्षुषत्वमिह चानयद् ध्वने-
र्गीतवाद्यजनितं निजाङ्गकैः ॥ १८
स्वीयगात्रनिचये सुपूर्णता-
मादधत् कुसुमसञ्चये यथा ।
नृत्यतीत्थमिदमुत्तमं वद-
त्युत्तमः सकलराजसंसदि ॥ १९

[॥ इति पात्रगुणाः ॥]

*

[पात्रदोषाः ।]

एतदुक्तगुणराशिसमस्त-
व्यस्तवर्गणविधेर्विपर्ययः ।
दोषराशिरुदितोऽत्र पात्रगो
दोषराशिरहितेन भूभृता ॥ २०

॥ इति पात्रदोषाः ॥

*

एतदर्थमिह नृत्यकोविदैः
कार्यमेव गुणदोषवीक्षणम् ।
यत्कृतेऽत्र किल जायते परा
नृत्यसंसदविचार(?पदपि चारी)सुन्दरा ॥

1 ABC put here इति पात्रगुणाः ।

यत् पुराणमुनिसंमतं त्विदं
नाट्यसिद्धिरखिला चरूप्यता(?निरूपिता) ॥ २१

मार्कण्डेयपुराणोक्ता नृत्ते पात्रैकतन्त्रता ।
नृत्तेनालम(?मल)रूपेण सिद्धिर्नाट्यस्य रूपतः ।
चार्वधिष्ठानं यन्नृत्यमन्यद्विडम्बनेति च ॥ २२

[॥ इति गुणदोषपरीक्षा[1] ॥]

*

[पात्रमण्डनानि ।]

स्निग्धविस्तीर्णधम्मिल्लः सविलासनिवेशितः ।
लसत्कुसुमसंभारसंभृतः शुचिरुज्वलः ।
ग्रन्थिर्विलुलितः स्कन्धे सौरभाकृष्टषट्पदः ॥ २३
विकाशिमल्लिकामोदिपुष्पपुष्प(?)दलिक्षिका ।
वेणी वा ललिता रत्नरचनागुम्फपेशला ॥ २४
हेमपट्टगता चित्रलेखेवाधिकशोभिनी ।
विभ्राजते पृष्ठदेशे लुण्ठती जनमोहिनी ॥ २५
मुक्ताजालमनोहारि कुन्तलैर्भूषितं शिरः ।
स्निग्धसिन्दूररुचिरो रतिसञ्चारमार्गवत् ।
मुक्तादामविभूषाढ्यः सीमन्तः स्निग्धसुन्दरः ॥ २६
विचित्रतिलको भालः कस्तूरीचन्दनादिना ।
कर्णयोः कामतूणीरतर्जकाववतंसकौ ॥ २७
मुक्तताटङ्कसुभगौ नीलेन्दीवरसुन्दरौ ।
तन्वञ्जने च नयने कुङ्कुमाद्यैर्विनिर्मिता ॥ २८
कपोलयोः पत्रभङ्गिरचना मदनप्रभोः ।
निवेशाय स्वस्तिकाली रत्येव विनिवेशिता ॥ २९
स्फुरद्रश्मिप्रभाजालै रदनावलिनिर्गतैः ।
अकस्माद्भासयन्तीव रङ्गभूमिं समन्ततः ॥ ३०
इयत् (? ईषत्) स्मितमनोहारी पद्मरागांशुपेशलः ।
ताम्बूलरागसुभगोऽधरो जनमनोहरः ॥ ३१
प्रभाप्राग्भारशोभाढ्यरत्नग्रैवेयकाञ्चिता ।
ग्रीवा कम्बुकृतत्रासा वासवेश्म मनोभुवः ॥ ३२

---

1 ABC put here इति पात्रदोषाः ।

कामलीलागृहप्रांशुसुवर्णवलयोज्ज्वलौ[1] ।
प्रोल्लसद्रत्नसंभिन्नमुद्रिकाभिरलङ्कृताः ॥ ३३
अङ्गुल्यो दश पञ्चेषुबाणाः किं द्विगुणीकृताः ।
चरणौ रत्नमञ्जीरहंसकध्वनिसुन्दरौ ॥ ३४
कर्पूरपूरकाश्मीरचन्दनैर्धूसरं वपुः ।
तत्तद्देशानुसारेण वस्त्रं कार्पासकं तनु ॥ ३५
क्षीरोदकादिकं चेति चेलं वा सभकञ्चुकम् ।
मण्डितं मौक्तिकालीभिर्नानापक्षिकृताकृति ।
एतन्मण्डनमत्रोक्तमन्यद्वा रुचितोऽञ्चितम् ॥ ३६
श्यामगौरविभागेन यत्र यद्वर्णपोषकम् ।
देशकालवयोवर्णानुसारेण प्रकल्पयेत् ॥ ३७

॥ इति पात्रमण्डनानि ॥

*

[संप्रदायलक्षणम् ।]

यत्रैको मुखरी वरः प्रतिमुखी युक्तस्तथा द्वौ परौ
प्रोक्तावावजधारिणौ षडथवा मार्दङ्गिकाः शोभनाः ।
द्वात्रिंशद्वदितास्तथा च करटाधत्रो(?त्रौ)युगं च द्वयं
स्फूर्जत्तालभृतोर्द्वयं निगदितं तत् काहलीधारिणोः ॥ ३८
अष्टौ कांस्यजतालधारिण इह द्वौ वांशिकौ सुस्फुटौ
सुव्यक्तप्रचुरध्वनी च रसिकौ रक्तिप्रदौ शृण्वताम् ।
चत्वारो भुकरास्तयोर्मधुरसुध्वानास्तथा गायनौ
द्वौ मुख्यौ सह गायनैर्निगदितावष्टाभिरेतद्गतैः ॥ ३९
मुख्ये गायनिके तथाष्ट सह गायिन्यस्तयोः कीर्त्तिताः
पात्रं सर्वगुणान्वितं निगदितं त्वेकं समुल्लासकम् ।
तेषां सर्व इमे सुरूपविभवाः सद्भूषणालङ्कृता
गीतार्थे निपुणाश्च साम्यकरणे हर्षोल्लसच्चेतसः ॥ ४०
तस्मादुत्तम एष मे निगदितः सत्संप्रदायो जने
ख्यातः कुटिलसंज्ञयार्धगणितः स्यान्मध्यमोऽस्मात् पुनः ।
अस्यार्धेन मितः कनिष्ठ इति वै म्लेच्छान्तकेनामुना
राज्ञायं निरगादि राजनिवहप्रीत्यै चिरायास्तु सः ॥ ४१

॥ इति संप्रदायलक्षणम् ॥

*

1 Here a line mentioning प्रकोष्ठौ seems to be missing.

[संप्रदायगुणदोषौ ।]

चत्वारोऽथ गुणास्तु कुट्टिलगतास्तालानुवृत्तिर्लय-
स्तेषामप्यनुवृत्तिरासुखरिणस्तन्न्यूनवृत्तिः खरा ।
दोषाः स्युर्गुणप[र्य]येण निखिला वर्ज्यास्तु ये यत्ततः
संवीक्ष्य(?क्ष्यैव) च संप्रदायरचनां कुर्वन्तु राजाग्रतः ॥ ४२

॥ इति संप्रदायगुणदोषौ ॥

*

[शुद्धपद्धतिः ।]

भूमीन्द्रेऽखिलदानमानकुशले सिंहासनाधिष्ठिते
प्रेक्षार्थं समुपस्थिते बुधगणैः सङ्गीतविद्भिः समम् ।
पूर्णां रङ्गभुवं प्रविश्य निखिलै रङ्गोपहारैः समं
तिष्ठन्तोऽखिलरङ्गकार्यविदुराः सत्संप्रदायान्तराः ॥ ४३

वाद्यानां समतां विधाय सकलां नादस्य साम्यं तत-
स्तच्चित्ताः परिवादयेयुरतुलं मेलापकं तत्परम् ।
संपूर्णं गजरं ततो जवनिकामन्तःप्रसूनाञ्जलिं
धृत्वा पात्रमवाप्य सौष्ठवमथोऽधिष्ठाय सुस्थानकम् ॥ ४४

अन्तर्धानपटेऽपसारित इहारब्धे विधानादथो
खण्डे चोपशमाह्वये जनमनांस्येकाग्रतामानयन् ।
पात्रं रङ्गभुवं विशेदथ समन्ताद्वाद्यमाने समं
खण्डे चोपशमाख्यके सविधिना पुष्पाञ्जलिं मध्यतः ॥ ४५

पात्रं मुञ्चति रङ्गपीठधरणौ यस्मात् सुरग्रामणी-
र्मध्येरङ्गमधिष्ठितः स्वयमसौ तं पूजनायोचितम् ।
तस्मात् [1]संमदसंभृतं त्वविकलैर्नृत्याङ्गकैः केवलै-
र्वाद्येनोपशमेन नृत्यति परं पात्रं मनःसंयुतम् ॥ ४६

[मो] तावत्सरिगोणिकाश्च[2] तुडिकाः स्यात्तत्पदं तत्परम्
साङ्गन्तं मलपं तथा च कवितं वाद्यप्रबन्धैरिमैः ।
पर्यायेण च या क्रमाद् बहिरथो स्वेच्छाकृते वादने
सामस्त्येन लयाश्रितैश्च विषमैर्नृत्याङ्गकैर्नर्त्तनम् ॥ ४७

---

1 Kumbha in भ. को. gives only तस्मात् समद to मनः संयुतम् and drops पात्रं to °योचितम् । p. 881. 2 Kumbha in भ. को. gives the reading तावत् संकुलगोपिकाश्च तुडिका etc. p. 881. We have adopted 'मोता' from सं. र. अ. ७. श्लो. १२६६. पदमोता च कवितं etc.

शुद्धैश्चाप्यथ रूपकै रुचिवशात्तैर्गीयमानैश्चिरं
पात्रं नैकविधं विधाय निपुणं नृत्यं ततः संत्यजेत् ।
रङ्गे यत्र न वादयन्ति गजरान् पश्चाच ते वादकाः
खण्डं तूपशमाभिधं खलु तदा पात्रं पदे प्राविशेत् ॥ ४८

उक्तेत्थं किल पद्धतिः परिपडिर्या प्रोच्यते तद्विदां
वृन्दैः साखिलराजराजिमुकुटालङ्कारहीरेण हि ।
वाद्यं चासमहस्तमत्र निगदन्त्येके प्रवेशात् पुरः
पाटैर्वा समहस्तकादिभिरिह स्यात् सर्वतोऽथेष्टतः ॥ ४९

स्थानं वा समपादमत्र निगदन्त्येके प्रवेशे बुधाः
केचित् केवलयोः प्रयोगमभणन् तं गीतवाद्यानुगम् ।
गीतादेरिह वाञ्छितैः परमसावेकैकशः कैश्चने-
त्येवं पद्धतिरीरिता सुविमला शुद्धा त्रिधा भूभृता ॥ ५०

॥ इति शुद्धपद्धतिः ॥

*

[गौण्डलीविधिः ।]

गीतैः सालगसूडैश्च[डस्थैः] प्रबन्धैश्च ध्रुवादिभिः ।
लास्याङ्गैः केवलैरेव तथाङ्गैरपि कोमलैः ॥ ५१

वाद्यप्रबन्धैः कठिनैः शुद्धैरेलादिभिर्विना ।
स्वयं नृत्यति यत्पात्रं स्वयं गायति च स्फुटम् ।
वादयेत् त्रिवलीं वाद्यं स्वयं तद्गौण्डलीं विदुः ॥ ५२

स्कन्धदेशे स्त्रिया वाद्यं ग्राम्यतासूचकं यतः ।
अतोऽस्य वादनं केचित् तद्विदो नैव मन्वते ।
गायेच्छारीरबुद्धया सा मूकत्वस्य जिहीर्षया ॥ ५३

कर्णाटदेशसंभूतं तस्या मण्डनमिष्यते ।
आश्रित्य गौण्डलीलक्ष्म तन्नर्तनमिहोदितम् ।
अत्र या पद्धतिः प्रोक्ता सैवोक्ता गौण्डलीविधिः ॥ ५४

देशी पद्धतिरेवेयं प्रोच्यते तत्क्रमोऽधुना ।
कर्णाटालङ्कृतियुताः स्युरस्मिन् सांप्रदायिकाः ॥ ५५

आतोद्यजातमत्रापि समनादं स्मृतं बुधैः ।
एकताल्या वादयेयुरथ मेलापकं ततः ॥ ५६

येन केनापि तालेन गजरे वादिते सति ।

निःसारुणा वैकताल्योपशमेऽस्य प्रचारिते ।
प्रविश्य रङ्गं तन्मध्ये पात्रं पुष्पाञ्जलिं क्षिपेत् ॥ ५७
अङ्गान्याविष्कुर्वदिव पुरो दक्षिणवामयोः ।
गजरोपशमेनैव नृत्येदविकलं ततः ॥ ५८
अड्डतालं च निःसारु तथा चैकतालिकम् ।
रिगोणीसंश्रिता या तु तथा सर्वाङ्गनर्त्तनम् ॥ ५९
कृत्वा ततः क्रमात्तालनियमेन विना कृतौ ।
अवश्यकवितौ ताभ्यां क्रमान्नर्तनमारभेत् ॥ ६०
ततश्चोटवणोपेतरिगोण्या चित्रनर्तनम् ।
निवारितेषु वाद्येषु सह गायनसंयुतैः ॥ ६१
वांशिकैरवकाशे च वितीर्णे सं(? स)ति गोण्डली ।
उच्चार्य स्थायिनं कुर्यात् रागालप्तिं चतुर्विधाम् ॥ ६२
काचिद्रा(? द्वा) गायिनी मुख्यालप्तिं नानाविधामिह ।
कुर्यान्मण्ठेन तालेन प्रतिमण्ठेन वा पुनः ॥ ६३
अन्येन केनचिद्वापि ध्रुवकं सकलं युतम् ।
गीत्वा तु वाद्यमानायां ढक्कायां मानसंयुतम् ॥ ६४
श्लक्ष्णा ध्रुवाख्यखण्डेन चित्तव्यक्तिमनोहरम् ।
नर्त्तनं मेलकोपेतं विदध्याद्गायकैः समम् ॥ ६५
अथानयोरुपरमे विहिते गानवाद्ययोः ।
स्थायान् विधाय विविधान् मुहुर्ध्रुवपदं व्रजेत् ॥ ६६
पूर्वमेव विधायाथ स्थायान् रक्तिसमन्वितान् ।
नातीव ह्रस्वदीर्घांश्च गमकप्रौढिपेशलान् ॥ ६७
प्रान्ततः प्रोल्लसत्तालान् ध्रुवखण्डे कलासयेत् ।
कलासे वादकाः कुर्युः सममातोद्यवादनम् ॥ ६८
विलीनमिव तत्पात्रं कलासे तत्र जायते ।
चित्रं चित्रार्पितमिव प्रेक्षकैरुपलभ्यते ॥ ६९
नृत्यस्य प्रक्रियां कृत्वा ह्यनेन विधिना पुनः ।
पूर्ववद् ध्रुवकाभोगखण्डे गायनसत्तमैः ॥ ७०
गीयमाने वाद्यमाने वादकैस्तद्वदेव च ।
खण्डे प्रहरणाख्ये च पुनर्नृत्यं यदृच्छया ॥ ७१
किञ्चित् कृत्वाथ च त्यागे सति संनिहिते पुनः ।
विचित्रप्रौढचारीभिः पात्रं नृत्यं समाचरेत् ॥ ७२

अत्र वाद्यं प्रहरणमाभोगेऽपि च तन्मतम् ।
वाद्यसाम्येन च त्यागं कृत्वा विश्रान्तिमाचरेत् ॥ ७३
ध्रुवेणैवं विधायाथ विधिवन्नर्त्तनं तथा ।
ध्रुववद् मण्ठकाद्यैश्च प्रारभेन्नर्तनं सुधीः ॥ ७४
परं तेषु विशेषो यः सोऽत्र सम्यग् निरूप्यते ।
ध्रुवखण्डनमण्ठादेः केवलं नर्त्तनं स्मृतम् ॥ ७५
प्रारम्भे मण्ठतालेन मण्ठो नर्त्तनमाचरेत् ।
ततः क्रमादेकताल्या मण्ठके नर्त्तनं भवेत् ॥ ७६
प्रतिमण्ठादिषु प्रोक्तं स्वतालेनैव नर्त्तनम् ।
प्रायः सालगसूडस्थे गीतं कुर्याद्द्रुते लये ॥ ७७
ताण्डवे पण्डितैरुक्तो लयः प्रायो बिलम्बितः ।
नर्त्तित्वा सालगे सूडे त्वेकताल्यन्तरूपकैः ।
त्यागो[1] यत्र भवेदेष विज्ञेयो गौण्डलीविधिः ॥ ७८

॥ इति गौण्डलीविधिः ॥

*

[श्रमविधिः ।]

नमस्कृत्य गणाधीशं तथा देवीं सरस्वतीम् ।
ब्रह्मविष्णुमहेशांश्च रङ्गदैवतकैः सह ॥ ७९
क्रमात्तालं वाद्यभाण्डमुपाध्यायं तथा पुनः ।
नृत्तकन्याः स्तम्भयुग्मं दण्डिकां च प्रपूजयेत् ॥ ८०
चन्दनागरुकर्पूरमृगनाभिमुखैः शुभैः ।
विलेपनैश्च सामोदैः सौरभ्येण मनोहरैः ॥ ८१
पुष्पैश्च विविधैर्धूपैरारात्रिकसमन्वितैः ।
नानाविधैश्च नैवेद्यैर्वस्त्रैर्वर्णविभूषितैः ॥ ८२
वलिपूजोपहारैश्च प्रार्चयेद्रङ्गदेवताः ।
ततः शुभे मुहूर्त्ते च प्रारभेत श्रमं सुधीः ॥ ८३
कन्यां हृदयदघ्नां च दण्डिकां तिर्यगायताम् ।
स्तम्भद्वयोपरि स्थाप्यां हस्तग्राह्यां सुयन्त्रिताम् ॥ ८४
अवलम्ब्याय तस्याश्च दृढां श्लक्ष्णां समां तथा ।
ततोवाच(?तश्चाल)यित्वा चलनं शुभ्रमादाय कञ्चुकम् ॥ ८५

---

1 ०गो ।

दृढं तामवलम्ब्याथोऽभ्यस्येदङ्गविवर्त्तनाः ।
भूत्वा च सुमनाः कन्या शिक्षाभ्यासपरायणा ॥ ८६
पूर्वोक्तमङ्गनिचयं लास्याङ्गान्यखिलान्यपि ।
स्थापनं चलनं रेखां तालसाम्यं लयानपि ।
गीतवाद्यानुगमनं शिक्षि(? क्षे)तानुदिनं शुचिः ॥ ८७

॥ इति श्रमविधिः ॥

*

येन स्वैः करणैर्दिगन्तरनृपाः स्वे पूर्वजास्तैर्नव-
प्रोदञ्चच्चरणैरनुद्धतकरैः संतर्पणात्तीर्थिकाः ।
शुभ्रैस्तैः परमङ्गहारनिचयैरुल्लासिताः स्वे[1] सभो-
देशास्तेन नृपेण नृत्यनिगमस्योल्लास उल्लासितः ॥ ८८

*

इति श्रीसरस्वतीरससमुद्भूतकैरवोद्याननायकेन अभिनवभरताचार्येण मालवाम्भोधिमाथमन्थमहीधरेण योगिनीप्रसादासादितयोगिनीपुरेण मण्डलदुर्गोद्धरणोद्धृतसकलमण्डलाधीश्वरेण अजयजयाजेयविभवेन यवनकुलाकालकालरात्रिरूपेण शाकम्भरीरमणपरिशीलनपरिप्राप्तशाकम्भरीतोषितशाकम्भरीप्रमुखशक्तित्रयेण नागपुरोद्धूलनप्रचं[ड]धर्षितनागपुरेण श्रीमत्कुंभलमेरुनवीननिर्मितसुमेरुणा श्रीमच्चित्रकूटभौमस्वर्गतायथार्थीकरणचारुतरपथेन मेदपाटसमुद्रसंभवरोहिणीरमणेन अरिराजमत्तमातङ्गपञ्चाननेन प्ररूढपत्रयवनदवदहनदवानलेन प्रत्यर्थिपृथिवीपतितिमिरततिनिराकरणप्रौढप्रतापमार्त्तण्डेन वैरिवनितावैधव्यदीक्षादानदक्षोद्दण्डकोदण्डदण्डमण्डिताखण्डभुजादण्डेन भूमण्डलाखण्डलेन श्रीचित्रकूटविभुना अध्युष्टतमनरेश्वरेण गजनरतुरगाधीशराजत्रितयतोडरमल्लेन वेदमार्गस्थापनचतुराननेन याचककल्पद्रुमेण वसुंधरोद्धरणादिवराहेण परमभागवतेन जगदीश्वरीचरणकिङ्करेण भवानीपतिप्रसादाप्तापसादवरप्रसादेन रायंगुरुचायंगुरुसेलगुरुवां[2]गगलांशयाचायुहयनेयु(?)स्त(? स्तु)त्यादिविरुदावलीविराजमानेन राजाधिराजमहाराणाश्रीमोकलेन्द्रनन्दनेन राजाधिराजश्रीकुम्भकर्णमहीमहेन्द्रेण विरचिते संगीतराजे षोडशसाहस्र्यां संगीतमीमांसायां नृत्यरत्नकोशे प्रकीर्णकोल्लासे पात्रलक्षणं नाम चतुर्थं परीक्षणम् ॥ उल्लासश्च समाप्तिं समगादिति विततमतीनामभिमतसिद्धिरस्तु[3] ॥

॥ इति नृत्यरत्नकोशे प्रकीर्णकोल्लासे चतुर्थं परीक्षणं समाप्तम् ॥

॥ समाप्तश्चायं चतुर्थोल्लासः ॥

---

1 AB स्ते । 2 B drops °वा° । 3 B श्रीसर्वविद्यानिधानकवीन्द्राचार्यसरस्वतीनां संगीतराजनृत्यरत्नकोशपुस्तकम् ।

NOTE—In ms. c there is an entirely different and a very long praśasti about the autheor of this work. It is given below:-

इति निःशंकनिर्भयमल्लेन ॥ १ ॥ सकलभूवलयैकवीरेण ॥ २ ॥ कलाकल्याणकुशले[न]श्रीकालसेनेन ॥ ३ ॥ द्वादशसहस्रजनस्थानप्रभृतिवसुन्धरासमुद्धरणैकधीरेण ॥ ४ ॥ श्रीजगदीशवनदेवनिजगणेन ॥ ५ ॥ श्रीकासेश्वरीचरणकिङ्करेण ॥ ६ ॥ श्रीब्रह्माद्रिविभुना ॥ ७ ॥ प्रथमप्रख्याततामराजआमोदराजरामराजपैंकराजम्हामराजतामराजेन्द्रप्रभृतिसकलमहीपालमौलिमाणिक्यरचितसिंहासनादिसमस्तप्रशस्तराजचिह्नाधिष्ठातृनरेश्वरेण ॥ ८ ॥ अगस्तिपुरनिरस्तसमस्तवैरिवर्गेण ॥ ९ ॥ कामाक्षाप्रसादासादितकुन्तीपुरेण ॥ १० ॥ शुद्धोद्धतोद्धतपति निपातपटुतरतरवारिधारेण ॥ ११ ॥ उद्धतपुरीनारीनयननीरनिरन्तसारिणीसमाप्यायितशौर्यतरुवरेण ॥ १२ ॥ श्रीभीष्मपुरजयानीतानेकराजकन्यारत्नेन ॥ १३ ॥ मणिपुरमर्दनादर्शितशौर्येण ॥ १४ ॥ कल्याणपुरजयाजितजामदग्न्येन ॥ १५ ॥ स्थानवलयितानेकदरीपरिसरपरित्रासितमनीरवीरेण ॥ १६ ॥ श्रीपुरग्रहणसंवर्द्धितयशोभरेण ॥ १७ ॥ वाटिकाचलग्रहणजनितकीर्त्तिपुरपराजिताचलनायकेन ॥ १८ ॥ [मदनपुर]विध्वंसनचारुचापरचितेन ॥ १९ ॥ सुवर्णगिरिखण्डनावनिवज्रहस्तेन ॥ २० ॥ नवसारीवनदेवीयुवतीजनवदनयामिनी[नाथ]सिंहिकासुतमानकरालवालेन ॥ २१ ॥ पाटलीरणधरणिधीरधनुर्टङ्कारमुखरितत्रिभुवनेन ॥ २२ ॥ तारापुरप्रज्वालनसमुद्भूतधूममलिनीकृतसकलवैरिवदनेन ॥ २३ ॥ कुङ्कुमपुरजयदर्शितसिंहविक्रमेण ॥ २४ ॥ संज्ञापुरोपार्जितरत्नेन ॥ २५ ॥ वेदिकागिरिनिर्दलनदारुणेन ॥ २६ ॥ कुरङ्गगिरिकोटविघट्टनलम्पटोरुनाशीरेण ॥ २७ ॥ पुण्यस्तम्भोद्धूलनोद्भूताद्भुतशौर्येण ॥ २८ ॥ संगमनीरदुर्गोद्धरणोद्धृतसकलमण्डलाधीश्वरेण ॥ २९ ॥ शुक्रपुरसमूलोन्मूलनप्राप्तजयश्रिया ॥ ३० ॥ गिरिपुरडुंगरग्रहणसार्थकीकृतोग्राग्रहेण ग्रहेण ॥ ३१ ॥ दमनपुरविध्वंसनवन्दीकृत्ययवनीनिचयेन ॥ ३२ ॥ आमर्दकगिरिशिखरो[परि]परिभावितशकनिकरेण ॥ ३३ ॥ महिषमेरुजयाजेयविभवेन ॥ ३४ ॥ शाकम्भरीरमणपरिशीलनपरिप्राप्तशाकम्भरीपरितोषितशाकम्भरीप्रमुखशक्तित्रयेण ॥ ३५ ॥ निजभुजशौर्यवशीकृतवग्गुलराजप्रमुखमहानिधानेन ॥ ३६ ॥ त्रेङ्गुरभूपालराजकृतसंस्थापनेन ॥ ३७ ॥ नराणरणकर्मकर्मठेन ॥ ३८ ॥ तुजारषा(खा)नमानमर्दनगृहीतराज्यलक्ष्मीसकलभाण्डागारनिचयेन ॥ ३९ ॥ अलङ्गगिरिगहनगह्वरकुहरविहारिवैरिवीरसिन्धुरमर्दननिर्दयकण्ठीरवेण ॥ ४० ॥ अष्टादशगिरिशिखरपरिवारिताञ्जनाद्रिविजयविख्यातवीर्यगर्वेण ॥ ४१ ॥ सप्तविंशतिसहस्रमहाराष्ट्रधराविधूननप्रलम्बप्रभञ्जनेन ॥ ४२ ॥ सप्ततिसहस्रगूर्जराम्भोधिमाथमन्थमहीधरेण ॥ ४३ ॥ महदम्बमातृकापुरोद्धूलनधर्षिता(? त)महोरगपुरेण ॥ ४४ ॥ पलायमानअजीमषा(खा)नसकलगृहीतजयश्रिया ॥ ४५ ॥ जाङ्गलस्थलजलधितरत्तुङ्गतरङ्गसंरंभकुम्भसंभवेन ॥ ४६ ॥ वस्तिसोपारकलहकलितकुन्तजनितकुन्दावदातकीर्त्तिधवलितदिगन्तरेण ॥ ४७ ॥ शशकगिरिलुण्ठनपटुतरेण ॥ ४८ ॥ श्रीवनदेवस्वामिप्र(? प्रा)सादरचनापरपरमेश्वरेण ॥ ४९ ॥ त्रियम्बकेश्वरसन्निधिकीर्त्तिस्तंभोन्नतजयस्तम्भेन ॥ ५० ॥

श्रीब्रह्मगिरिभौमस्वर्गतायथार्थीकरणरचितचारुपथेन ॥ ५१ ॥ श्रीकामाक्षागिरिनवीननिर्मितिपराजितसुमेरुणा ॥ ५२ ॥ श्रीमहिपाचलोपरिश्रीहरिशरणरचिताचलदुर्गेण ॥ ५३ ॥ रायंगुरु चायंगुरु सेलगुरु रायांचापरगुरु वागाङ्गलारायांचामुहवनरायहिंसक्रायमाचल्लपूर्वपश्चिमउत्तरदक्षिणचतुर्दिशां रायांचा-आंवुला-इत्यादि-विरुदावलीविराजमानेन ॥ ५४ ॥ अध्युष्टतमनरेश्वरेण ॥ ५५ ॥ सवलराजस[मू]न्मूलनाचार्येण ॥ ५६ ॥ दुर्बलराजसंस्थापनाचार्येण ॥ ५७ ॥ पितृवैरसमुद्भूतरोपपोषणमहीपतिमत्तमातङ्गमस्तकाङ्कुशेन ॥ ५८ ॥ अभिनवभार्गवेण ॥ ५९ ॥ राजभुजवलभीमेन ॥ ६० ॥ हिन्दूकराजगजपतिना ॥ ६१ ॥ आसनसिंहासनसितातपत्रमाणिक्यमालामण्डितवातान्दोलितजयपताकाकनकदण्डचन्द्रावदातचलचामरयुगलमकरध्वजादिराजराजालङ्करणावलोकनमत्सरितमानसेतरनृपालमौलिनिहितवामचरणेन ॥ ६२ ॥ नलनहुषधुंधुमारभरतभगीरथमान्धातृमेधातिथिप्रभृतिचिरराजरत्नोदात्तचरितेन ॥ ६३ ॥ वेदमार्गस्थापनचतुराननेन ॥ ६४ ॥ सर्वदात्र्यम्बकादिगोदाविमुक्तिसमस्तामुक्तिप्रवितीर्णमुक्तमुक्ताकलापेन ॥ ६५ ॥ श्रीब्रह्मगिरिसन्निधिकृतयुगधर्मानुवृत्तिब्रह्मवृन्दाधिष्ठितानेकयज्ञाद्यखिलसुकृतकृत्यसत्यलोकेन ॥ ६६ ॥ परमभागवतेन ॥ ६७ ॥ अभिनवभरताचार्येण ॥ ६८ ॥ सङ्गीतमीमांसानिर्माणपरप्रभाकरेण ॥ ६९ ॥ प्रवन्धराजश्रीगीतगोविन्दनिर्माणपरितोषितराधामाधवेन ॥ ७० ॥ कामाक्षास्तुतिकरणाराधितकामेश्वरीचरणकमलेन ॥ ७१ ॥ श्रीगीतगोविन्दटीकारचनवर्णितसाङ्गशृङ्गाररसेन ॥ ७२ ॥ सकलराजवाग्गेयकारतोडरमल्लेन ॥ ७३ ॥ सकलकविराजचक्रचूडामणिना ॥ ७४ ॥ वीणावादनप्रवीणेन ॥ ७५ ॥ सुशारीरशालिना ॥ ७६ ॥ पत्ननगरजनस्थानगोदावरीविराजमानम्लेच्छोच्छेदितचिरकालधर्मसंस्थापनेन ॥ ७७ ॥ संस्कृतभाषामहाराष्ट्रभाषात्रैलिङ्गकर्णाटभाषाचतुष्टयविरचितनाटकराजचतुष्टयेन ॥ ७८ ॥ याचकजनकल्पनाकल्पद्रुमेण ॥ ७९ ॥ वसन्तसमयसमागतसमस्तसामन्तसीमन्तिनीशिरोमणिसीमन्तसिन्दूरपूरदूरोद्धूलनप्रकटितप्रौढप्रतापेन ॥ ८० ॥ निसर्गदुर्ग्रहदुर्गवर्गदुर्गमप्र(? प्रा)कारपरिखापरिपातपरिखिद्यमानपरिशङ्कितपरिजनपरिवीतप्रत्यर्थिनितम्बिनीलुंटाकार्गलादीर्घभुजायुगलेन ॥ ८१ ॥ धीरोदात्तधीरशान्तधीरोद्धतधीरललितचतुर्विधनायकगुणग्रामविचारचातुरीचतुराननेन ॥ ८२ ॥ अष्टविधनायिकाहावभावविवेकोद्दामोद्दीपितसरविलोकनानुभूयमानशृङ्गाररससान्तरनिरन्तरान्तरानन्देन ॥ ८३ ॥ नाटकनाटिकाख्यायिकाप्रलेहि(? हेलि)काकलाकलापकौशल्येन ॥ ८४ ॥ भारतीयरसदृष्टिभावदृष्टिभावितभावनाभिनवभरताचार्येण ॥ ८५ ॥ नन्दिकेश्वरमतानुवर्त्तनाराधितत्रिनयनेन ॥ ८६ ॥ परमपराक्रमार्जुनेनाथ वृहन्नटेन ॥ ८७ ॥ सतताराधितधर्मेणाथ वृकोदरेण ॥ ८८ ॥ श्रीसरस्वतीरससमुद्भूतकैरवोद्याननायकेन ॥ ८९ ॥ यवनकुलाकालकालरात्रिरूपेण ॥ ९० ॥ सततपराभूतसूर्यवंशीन्द्रसेनराजराज्यसंस्थापनदृढाङ्गीकारेण ॥ ९१ ॥ गूर्जरधराधीशमहमदसुलताणधीरत्वोन्मूलनप्रचण्डपवनेन ॥ ९२ ॥ त्रिसंध्यक्षेत्रसमुद्रसंभवरोहिणीरमणेन ॥ ९३ ॥ अरिराजमत्तमातङ्गपञ्चाननेन ॥ ९४ ॥ मरूढपत्रयवनदवदहनदावानलेन ॥ ९५ ॥ प्रत्यर्थिपृथिवीपतितिमिरततिनिराकरणप्रौढप्रतापमार्तण्डेन ॥ ९६ ॥ वैरिवनितावैधव्यदीक्षादानदक्षोद्दण्डकोदण्डमण्डिता-

खण्डभुजादण्डयुगलेन ॥ ९७ ॥ भूमण्डलाखण्डलेन ॥ ९८ ॥ गजनरतुरगाधीशराजत्रितयतोडरमल्लेन ॥ ९९ ॥ वसुन्धरोद्धरणादिवराहेण ॥ १०० ॥ भवानीपतिप्रसादाप्तापसादवरप्रसादेन ॥ १०१ ॥ अनन्यमल्लीकगर्वखण्डनमुशलहस्तबलभद्रपराक्रमेण ॥ १०२ ॥ महाराजाधिराजमहाराणाश्रीमृगाङ्कतामराजेन्द्रनन्दनेन ॥ १०३ ॥ श्रीमहाराज्ञीश्रीसौभाग्यवतीजसमाम्बिकाहृदयनन्दनेन ॥ १०४ ॥ विविधविज्ञानविश्चमत्कारिचातुरीधुरीणसकलसीमन्तिनीशिरोमणिरूपलावण्यलज्जालक्ष्मीनिधानशृङ्गारसरसीशतराजकन्याप्रवरनिकुंभराजन्यवंशावतंसमहाराज्ञी-श्रीकर्मवतीलपुमादेवीहृदयाधिनाथेन ॥ १०५ ॥ श्रीमहाराजाधिराजकालसेन-महीमहेन्द्रेण विरचिते सङ्गीतराजे षोडशसाहस्र्यां सङ्गीतमीमांसायां नृत्यरत्नकोशे प्रकीर्णकोल्लासे पात्रलक्षणं नाम चतुर्थं परीक्षणं नृत्यरत्नकोशश्चतुर्थः समाप्तिं समागादिति विततमतीनामभिमतसिद्धिरस्तु ॥ शुभं भवतु ॥ श्रीरस्तु ॥

॥ इति नृत्यरत्नकोशः समाप्तः ॥

※ ※
※

परिशिष्ट

श्लोकानुक्रमणिका

परिशिष्ट २

पारिभाषिक - शब्दानुक्रमः

परिशिष्ट ३

ग्रन्थकारेण निर्दिष्टानां ग्रन्थानां ग्रन्थकृतां चाकाराद्यनुक्रमणी



BIBLIOGRAPHY

Akbar the Great Mugal (1542–1605) by Vincent A. Smith, C.I.E.
Second Edition, Revised Indian Reprint, 1958
S. Chand & Co. Delhi.
The Arvindu Dynasty of Vijayanagar by Rev. Heras. Paul & Co. Publishers, Madras, 1927.
Bombay Gazetteer Vol. I parts I & II. Vol. XII, Vol. XVI.
The Cambridge History of India Vol. III.
A Collection of Prakrit and Sanskrit Inscriptions published by the Bhavanagar Archaeological Department, Bhavanagar.
Ferishta Vol. IV.
Fine Art in India and Ceylon by Vincent Smith, second edition, Oxford, 1930.
Geographical Dictionary of Ancient & Medieval India by Nandlal De.
History of Gujarat (1297–1573) by Commissariat.
History of Indian and Eastern Architecture Vol. II by James Fergusson, London 1910.
History of Orissa Vol. I by R.D. Banerji, Calcutta 1930.
History of Rajputana Vols. I & II by Gaurishankar Ojha, Ajmer 1932
History of the rise of the Mahomedan Power in India, till the year A.D. 1612, (Translated from the original Persian of Mahomed Kasim Ferishta by John Briggs, M.R. A.S. Vol. IV Calcutta, 1916
Imperial Gazetteer of India, Mahb b bād to Morādābād Vol. XVII New edition Oxford, 1908.
Indian Antiquary Vol. III 1879.
Indian Architecture (Islamic period) by Percy Brown, Bombay, 1942
Journal of the Indian Historical Research Institute, 1929.
Journal of the Royal Asiatic Society Vol. XV
Mahārāṇā Kumbhā by Harbilas Sarda–second edition, 1932, Ajmer.
Mandu, Publications Division–Ministry of Information and Broadcasting, Government of India, Delhi 8.
The Ruins of Mandoo, by J. Guiaud of Nice, Dhar, 1892.
Tod's Annals and Antiquities of Rajasthan Vols. I, II, III by James Tod, Oxford university press, 1920
राजपूताने का इतिहास (पहला खंड) पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, अजमेर वि.सं. १९८२

प्राचीन लेखमाला	भाग १	मुम्बई
,, ,,	भाग २	,,
,, ,,	भाग ३	,,

भावनगर प्राचीन शोध संग्रह—वजेशंकर गौरीशंकर, राजकोट १८८७

पाठ्यरत्नकोश	सं० कुन्हन राजा
भरत-नाट्यशास्त्र	गायकवाड संस्कृत सिरीज् वड़ोदा
राष्ट्रौढ वंश महाकाव्य	,, ,, ,, ,,
शब्दकल्पद्रुम	
संगीत-रत्नाकर	भाग ७ आनन्दाश्रम सं० सिरीज्



ERRATA

Page	Line	Incorrect	Correct
2	28	Nṛtyaratankos'a	Nṛtyaratnakos'a
3	25		Add II in the ullāsa coloumn
5	10	the	that
7	1 fn.	very	every
11	13	Muharik	Mubarik
12	1n	Henay	Henry
12	3	Nayaka	Nāyaka
12	7	Eri	Ere
19	12	Rāghvadeva	Rāghavadeva
20	1	Rāghavdeva	Rāghavadeva
20	26	Rankpur	Rānakpur
20	3n	Rajaputana	Rajputana
23	18	Hymayun	Humayun
23	31	Mahmodan	Muhammad
23	11	rular	ruler
24	31	Mahmodan	Mohammedan
25	12	Sadhu, Saharan, Sadharan,	Sādhu, Sahāran, Sādhāran.
25	18	Muhamud	Mahmud
27	16	Baily's	Bayley's
28	4	for	far
29	39	IVX	XVI
30	27	Ain-i-Akari	Aln-i-Akbari
31	9	Khaānān	Khānā
32	3n	Udaipu	Udaipur
33	37	Sadari	Sādari
34	25	Nāṭyas'astra	Nāṭyasāstra
34	19		delete the mark „
36	12	Prtas	Prāsā
36	14	Rūpavtara	R pavatāra
36	18	Dıpkiā	D pikā
37	12	intrugues	intrigues
37	31	Colnol	Colonel

शुद्धिपत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	३	०निमाणम्	०निर्माणम्
४	२१	निकृष्टं	विकृष्टं
५	१८	०पट्टहाचैश्च	०पटहार्यैश्च
४१	१५	स्यादन्त मूर्तं	स्यादन्तमूर्तं
४३	—	after line 4 Add heading	हस्ता:
४६	१३	प्रत्य(?किम) ते	प्रत्यके
५७	१५	इत्युद्वृत्ती	इत्युद्वृत्ती
६६	४	सूचीमुखावम	सूचीमुखावम
७८	६	पलित:	पलित:
९८	११	[illegible]०	कंपनचलन०
१०२	३	नवोढा लज्जिते	नवोढालज्जिते
१०६	६	आवर्तित कनिष्ठा०	आवर्तितं कनिष्ठा०
१३१	२०	कङ्का लङ्कुनिका	कङ्कु सङ्कुनिका
१४१	२६	सोर्ध्वजानु: स सूचीको	सार्धजानु: ससूचीको
१४७	२४	पलितो च	पलितोच
१५३	१३	नूपुरपादिकाम्	नूपुरपादिकाम्
१५८	११	०स्तदा वृत्यादि	०स्तदावृत्यादि
१५६	२४	लता वृश्चिकमेव	लतावृश्चिकमेव
१६१	१३	श्रेय: परम०	श्रेय:परम०
	१८	विधृ ग्रभास्त:	विधृ प्रभास्त:
१६८	६	Add शा०. प्र०. 6	